सिद्धयोग

वर्ष-२६ : अंक- ८ नवम्बर १९९३

संस्थापक:
योग योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सेवाई, आगरा

प्रकाशक :
श्री देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक
श्री 'दिव्य'

नवम्बर
1993

इस अंक में पढ़िए

लेख लेखक		पृष्ठ
★ मेघां मे वरुणे ददातु	....	1
★ योगी अमरनाथ जी —योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	....	2
★ अभ्यास योग (सम्पादकीय)	....	5
★ युक्ताहार का रहस्य —श्री आचार्य चन्द्रहास शर्मा, रीडर (दिल्ली)	....	9
★ अध्यात्म में छायावाद —डा॰ सुशीला भार्गव	....	13
★ ज्ञानी की महिमा —सन्त दर्शनानन्द	....	15
★ अब देर क्यों ? —श्री विष्णुप्रसाद व्यास	....	17
★ नाम जप की महिमा —परम सन्त श्री आशाराम जी	....	25
★ आत्म-संयम और आत्मबल —श्री स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज	....	31
★ पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम —सर्पट पत्रिका से	....	34
★ योगदर्शन में अष्टाङ्ग योग —डा॰ श्री भीष्मदत्त शर्मा	....	35
★ मन्दाग्नि दूर करने की यौगिक प्रक्रिया —स्वामी वेंकटेश भट्ट	....	37
★ सद्गुरु प्रबोधन —श्री भोलेबाबा	....	39
★ नारी और आध्यात्मिकता —डा॰ श्रीमती प्रतिमा अस्थाना	....	41

वार्षिक मूल्य 55 रुपया। एक अंक का मूल्य 6 रुपया
द्विवार्षिक मूल्य 100 रुपया।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २६
अङ्क ८

नवम्बर
१९९३

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मु ख विरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थात् बहुविलदं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ।।

मेधां मे वरुणो ददातु

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ।।

—यजुर्वेद 32/14

अर्थात्

हे सर्वोत्कृष्टेश्वर ! आप "वरुणः" वर (वरणीय) आनन्द-स्वरूप हो। कृपा से मुझको मेधा सर्वविद्यासम्पन्न बुद्धि दीजिये तथा "अग्निः" विज्ञानमय विज्ञानप्रद "प्रजापतिः" सब संसार के अधिष्ठाता पालक "इन्द्रः" परमैश्वर्यवान् "वायुः" विज्ञानवान् अनन्तबल "धाता" तथा सब जगत् का धारण और पोषण करने वाले आप मुझ को अत्युत्तम मेधा (बुद्धि) दीजिये ।

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

योगी अमरनाथ जी

श्री अमरनाथ जी आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के शरणागत होने वाले आदर्श जिज्ञासु भाइयों में से एक थे। इनका जन्म पवित्र ब्राह्मण कुल में पंजाब प्रान्त के गाँव में हुआ था। यह जन्म से ही बहुत पवित्र एव आदर्श शील-स्वभाव के थे। मन में भगवद्दर्शन की पवित्र अभिलाषा बाल्यकाल से ही बनी रहती थी। परन्तु उस मार्ग के प्रदर्शक किसी परिपूर्ण गुरुदेव के दर्शन न पाने के कारण इनके मन में बराबर अशान्ति बनी रहती थी। प्रतिक्षण इनके मन में यह अभिलाषा तीव्रतर होती जाती थी कि पूर्ण साक्षात्कार कराने वाले कोई गुरुदेव मिल जाँय, जो उनके चरण कमलों पर अपने को न्यौछावर करके धन्य कर लूं।

अमरनाथजी का विद्याध्यन बहुत साधारण था। इनके भाई अमृतसर में लछमणसर पर होटल की दुकान करते थे। भाई अमरनाथ जी भी किसी साधारण व्यवसाय के लिए अमृतसर में ही निवास किया करते थे। सत्संग की प्रवृत्ति तो बराबर बनी ही रहती है। इसी बीच में इन्होंने आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की महिमा किसी व्यक्ति के मुख से सुनी और इन्होंने नित्य सत्संग में आना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप शनै:-शनै: श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में इनकी निष्ठा परिपक्व होने लगी। समय आने पर इन्होंने पवित्र योग मार्ग में योग दीक्षा प्राप्त की। दीक्षित होने पर इनको ध्यान-स्थिति अनवरत बढ़ने लगी और इनका अभ्यास क्रमानुसार बढ़ता गया। ध्यान-स्थिति के परिपक्व होने पर इन्होंने ध्यान-योग से ईश्वर के ऐश्वर्य का गहरा अवलोकन किया। योग-दर्शन के विभूति-पाद में भगवान् पतञ्जलि ने एक सूत्र लिखा है—"भुवन ज्ञान सूर्यसंयमात्" अर्थात् योगी को चाहिए कि अपने संयम के आधार पर वह चौदह भवनों को देख डाले और ईश्वर के दिव्य-ऐश्वर्य का खूब अवलोकन करे। सूर्य में संयम करने से यह संभव होता है।

इस शास्त्रीय-नियमानुसार हमारे सद्गुरुदेव योगयोगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज का भी यह नियम था कि वह स्थिति प्राप्त साधक को दिव्य-लोकों का दर्शन पहिले से ही कर दिया करते थे, जिससे उनके वैराग्य में कोई विक्षेप

योगी अमरनाथ जी की यौगिक साधना के विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेवजी की साधना के उनके अपने प्रेरक-संस्मरण भी।
—सम्पादक

उत्पन्न न हो एवं उसकी साधना निर्विघ्न उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाय। इस सिद्धान्तानुसार श्री प्रभुजी ने भाई अमरनाथ जी को अतल, वितल, रसातल, तलातल पाताल आदि नीचे के एवं भूः भुवः, महः, जनः तपः, सत्य आदि ऊपर के लोकों का पूर्णरूपेण साक्षात्कार कराया था। भाई श्री अमरनाथ जी ईश्वर के ऐश्वर्य का खूब अवलोकन कर चुके थे, अतः उनके मन में तीव्रता से पूर्ण वैराग्य-भाव का उदय हुआ। जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने जीवन को पूर्णरूपेण तपोमय बना डाला। उनकी दिन-चर्या में उनके अपने दो ही कार्य प्रमुख थे—एक तो आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के दर्शन प्राप्त करना व दूसरा कार्य था—अधिकाधिक मन लगा कर योगाभ्यास करना।

मनोलय एवं आसन का उत्थान

योगदर्शन का सिद्धान्त है—

यत्र मनो लीयते तत्र प्राणो लीयते।
यत्र प्राणो लीयते तत्र मनो लीयते॥

अर्थात् जहाँ पर मन का लय होता है वहाँ पर प्राण भी स्वयं लय हो जाया करता है। एवं जहाँ प्राण लय होता है वहाँ स्वतः ही मन भी लय हो जाया करता है।

इस सिद्धान्तानुसार भाई श्री अमरनाथ जी का भी अभ्यास चला। उनका मन काल के अधिकार से आगे ब्रह्माण्ड में लय रहा करता था। जिस समय वह अपना अभ्यास करना प्रारम्भ करते थे, उनके पाँचों प्राण वायु—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान—योग युक्त हो जाया करते थे। शक्ति-चालिनी मुद्रा करते समय उनको भस्त्रिका प्राणायाम तीव्रता से चला करता था। शनैः-शनैः उनका यह प्राणायाम कुम्भक के रूप में बढ़ता चला गया और उनका आसन भूमि से ऊपर उठना प्रारम्भ हो गया। मुझे वह दिन याद है जबकि योग-साधन आश्रम ऋषिकेश में भाई अमरनाथ जी का आसन भूमि से ऊपर उठा और उनके उत्थित आसन के नीचे से श्री प्रभुजी ने अपना हाथ घुमाकर दिखलाया था। इस दृश्य को देखने वाले जो बीसियों व्यक्ति उस समय वहाँ आश्रम में उपस्थित थे, कदाचित् उनमें से पाँच-दस अब भी इस संसार में होंगे। इस प्रकार पृथ्वी से ऊपर अधर में स्थित उनका आसन सबको ही बड़ा भारी आश्चर्यमय रहता था।

भाई अमरनाथ जी का निवास प्रायः अमृतसर में ही रहता था। अपने मन से ही उन्होंने इस अभ्यास को उत्तरोत्तर बढ़ाना आरम्भ कर दिया। उनको तीव्र अभिलाषा होने लगी कि कुछ समय बाद वे जंगलों में निकल जायेंगे और तीव्रतम वैराग्य धारण करके योगाभ्यास किया करेंगे। किन्तु होनहार कुछ और ही थी। कदाचित् श्री प्रभुजी को ऐसा होना स्वीकार नहीं था, क्योंकि भाई अमरनाथ जी का कुछ प्रारब्ध-भोग शेष था। उनके तीव्र वैराग्य-मय भावों को देखकर उनके कुटुम्बी-जनों ने उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने को बाध्यकर दिया, तीव्र अनिच्छा होने पर भी अमरनाथजी को अपने परिवार वालों का आग्रह मानकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना पड़ा। लाहौर में

जिस समय भाई अमरनाथ जी ने पत्नी का पाणिग्रहण किया, उसी समय बड़े सरल एवं स्पष्ट शब्दों में अपने श्वसुर से कहा—अच्छा, यदि होनहार ऐसी ही थी, तो वह हो गई। अब हम केवल एक साल के मेहमान हैं। एक साल के बाद आप अपनी इस लड़की को भी प्रभुजी के चरण-कमलों में दीक्षित करा दीजियेगा और योगाभ्यास कराया कीजिएगा।

अमरनाथ जी के श्वसुर उनसे या श्री प्रभुजी से पूर्व परिचित तो थे नहीं। वे उनके मुख से निकली बात का मर्म न समझ सके। वास्तविकता न समझ कर अनभिज्ञ से प्रेमपूर्वक पूछने लगे-बेटा, तुम क्या कह रहे हो? बीच में ही उनके भाई लक्ष्मण दास जी बोल उठे-कुछ नहीं पण्डित जी, यह केवल यही कह रहे हैं कि जैसे हम योगाभ्यास करते हैं, उसी प्रकार इसको भी कराया करेंगे। यह सुनकर उनके श्वसुर हँस पड़े और कहने लगे-हाँ, हाँ बेटा, क्यों नहीं? अब तो वह तुम्हारी हो गई-चाहे कुछ भी कराना। पाणिग्रहण संस्कार का कार्य समाप्त हुआ परन्तु अमरनाथ जी के जीवन में परिवर्तन का आरम्भ न हुआ। अब वह हर समय काफी विचार-मग्न से रहने लगे। स्वयं अकेले बैठे-बैठे कभी हँस पड़ते थे और उनके मुख से यह वचन निकलते थे—क्या था और क्या हो गया? हम तो साधु थे परन्तु बैकुण्ठवासी बना दिए गए। क्या सोचते थे और क्या हो गया? अमरनाथ जी अपने भाई लक्ष्मणदासजी से भी बार-बार यही कहा करते—भाई, तुमने यह अच्छा नहीं किया। एक साधु को तुमने बैकुण्ठवासी बना दिया है। लक्ष्मणदास जी बार-बार आग्रह पूर्वक पूछते-भाई, मैंने तुम्हें कैसे बैकुण्ठवासी बना दिया? यह तुम क्या कहा करते हो? इस पर अमरनाथजी हँस पड़ते और कहते-अभी क्या बता दें। एक वर्ष का समय है, इसको निकाल लें, तब इकट्ठा ही बता देंगे।

शनैः शनैः वर्षावधि भी समाप्त होने को आ गई। भाई अमरनाथ जी ध्यानाभ्यास में गृहस्थ हो जाने पर भी किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आने पाई थी। पूर्ववत् उनकी साधना का क्रम चलता रहा था। उनका मुख-मण्डल पूर्णरूपेण दैदीप्यमान रहा करता था। बीच-बीच में बारम्बार अपने मुख से उन्हीं शब्दों का उच्चारण करते रहते थे क्या था, क्या हो गया? अन्त में पूरा वर्ष समाप्त होकर वह दिन भी आ गया, जिसकी उन्हें प्रतीक्षा थी। उस दिन श्री अमरनाथ जी ने प्रातःकाल ही स्नान किया। अन्य दिनों की अपेक्षा आज वह विशेष उल्लसित दीखते थे। किसी प्रकार के रोग, शोक या चिन्ता का चिह्न उनके शरीर पर नहीं था। उस दिन प्रातःकाल से ही उन्होंने कहना प्रारम्भ किया-अच्छा, आज यात्रा का दिन आ ही गया। आज मुसाफिर चला जायगा। उनके मित्र, भाई आदि बड़े आश्चर्य से पूछने लगे—कौन मुसाफिर है? वह आज कहाँ जा रहा है? तब उन्होंने स्पष्ट कह दिया-भाई, और दूसरा कौन, हम ही तो वह मुसाफिर हैं। (क्रमशः)

सम्पादकीय :—

—: अभ्यास-योग :—

[हमारे पूज्यपाद श्री गुरुदेव अपने सभी शिष्यों को साधना की सफलता के लिए 'अभ्यास-योग' को अपनाने पर विशेष बल दिया करते थे। उनका परामर्श रहता था कि बिना अभ्यास की सतत् साधना के योग के किसी अंग की पूर्णता परिपक्व नहीं होती। नीचे उन्हीं के सारपूर्ण विचार जो एक लेख के रूप में निबद्ध किए गये थे—पाठकों के लाभार्थ यहाँ दे रहे हैं। पाठक इसे पढ़कर अधिक लाभान्वित होंगे, ऐसा हमारा निश्चित विश्वास है। —सम्पादक]

श्रीमद्भगवद्गीता में जगदात्मा योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने जहाँ अर्जुन को निमित्त बनाकर समस्त मानव जगत को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए विविध योग-साधनों का उल्लेख किया है वहाँ उन्होंने उन साधनों में अभ्यासयोग का वर्णन भी विशेष रूप से किया है। अध्याय 12 में वे स्पष्ट रूपेण निर्देश देते हैं कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्यमत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन-मां ध्यायन्त उपासते ।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ।।

—गीता 12/6-7

अर्थात् जो समस्त कर्मों को मुझ ईश्वर के समर्पण करके, मेरे परायण होकर केवल अनन्य योग से अर्थात् विश्व रूप परमात्मा को छोड़कर जिनका कोई अन्य अवलम्ब नहीं है ऐसे अनन्य भाव से जो चिन्तन, ध्यान और उपासना करते हैं, उनका क्या होता है ?

यह स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं—हे पार्थ ! मुझ विश्वरूप परमेश्वर में ही जिन्होंने अपना चित्त समाहित कर दिया है उनका इस जरामरण रूप दुःख-सागर से मैं अविलम्ब उद्धार कर देता हूँ। इसलिए तुझे उचित है कि :

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।

—गीता 12/8

अर्थात् तू मुझ ईश्वर में ही अपने संकल्प विकल्पात्मक मन और बुद्धि को स्थिर कर इससे तुझे मदात्मभाव अर्थात् ऊर्ध्व गति प्राप्त होगी ।

इस उपरोक्त निर्देशन के पश्चात् ही भगवान मानव मन की कमजोरी समझते हुए अर्जुन को यह उपयोगी परामर्श भी देते हैं कि :

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोति मयि स्थिरम् ।
अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।।

अर्थात् हे अर्जुन यदि तू उपरोक्त प्रकार से मेरे में अपना मन और बुद्धि स्थापित नहीं कर सकता है तो तू 'अभ्यासयोग' के द्वारा मुझे यानी विश्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा कर।

आगे श्रीकृष्णचन्द्र ने अभ्यासयोग द्वारा भी परमानन्द रूप ब्रह्मानन्द की प्राप्ति न होने पर मदर्थ यानी लोक कल्याणकारी कर्म करने अथवा वेद विहित निष्काम कर्मों को करने का परामर्श देते हुए सिद्धि प्राप्त कर लेने का सुगम तथा सहज उपाय भी दर्शाया है।

किन्तु इन अन्य उपायों की विवेचना न करते हुए यहाँ हम केवल अभ्यासयोग की ही चर्चा करना आवश्यक समझते हैं।

अभ्यास और योग—इन दो शब्दों का मेल ही 'अभ्यास योग' कहा गया है। अभ्यास शब्द अभि उपसर्ग तथा यास के संयोग से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है विशेष यानी भली प्रकार किया हुआ प्रयत्न अथवा अभ्यास। मन वाणी अथवा शरीर द्वारा जिस विचार अथवा क्रिया को बार-बार प्रयत्नपूर्वक सम्पादन किया जाता है इसी को अभ्यास के नाम से पुकारा जाता है। बार-बार दुहराने अथवा करने से जो भाव अथवा कर्म करने की विधि हमारे अन्तर मन में समा जाती है उसे ही हम सहज धर्म अथवा सहज भाव कहने लगते हैं। जो भाव हमारा अपना बन जाता है वहीं स्व-भाव कहा जाता है इसी का अपर नाम सहज धर्म होता है। भगवान अर्जुन को उपर्युक्त श्लोकों द्वारा यही समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि यदि तेरा चित्त उपासना अथवा ध्यान योग में स्थिर नहीं होता है तो तू अभ्यास योग का आश्रय ले। अभ्यास योग तुझे तेरे लक्ष्य तक पहुँचा देगा।

इससे पूर्व भी भगवान ने अर्जुन को अभ्यास योग का आश्रय लेने का परामर्श तब दिया है जब उसने मन को दुर्निग्रही और अति चंचल बताते हुए उसे वश में करने का उपाय उनसे पूछा है। अर्जुन ने मन की अपराजित शक्ति का रूप प्रस्तुत करते हुए भगवान से निवेदन किया :

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

—गीता 6/34

अर्थात् हे कृष्ण यह मन बड़ा चञ्चल प्रमथन स्वभाव वाला बड़ा दृढ़ और बलवान है। वायु के वेग को रोकने के समान उसको वश में करना बड़ा दुष्कर है। बताइये महराज कैसे फिर इसे वश में लाया जाय ?

भगवान ने बड़ी गम्भीरता और शालीनता के साथ जवाब दिया—

असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल है और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कौन्तेय ! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में हो जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि योग-साधना की सफलता अभ्यास पर बहुत कुछ निर्भर है। साधारणतया बिना अभ्यास के मनुष्य किसी भी कला अथवा विद्या में पारंगत नहीं हो सकता। भौतिक सुख सुविधाओं की प्राप्ति हो अथवा आध्यात्मिक ऐश्वर्यों की उपलब्धि, सभी के लिए उसे अभ्यास योग का आश्रय लेना होगा। विद्यार्थी जीवन को भी समुन्नत और सम्पन्न बनाने के लिए भी प्रयत्नों को पुनः-पुनः करना होता है। यही अभ्यास कहा जाता है। आचार्य शंकर ने भी 'अभ्यास योग' की व्याख्या करते हुए कहा है :

चित्तस्य एकस्मिन् आलम्बने सर्वतः
समाहृत्य पुनः-पुनः स्थापनम् अभ्यासः।

अर्थात् चित्त को सब ओर से खींचकर बारम्बार एक आलम्बन में लगाने का नाम अभ्यास है।

चूँकि हम यहाँ 'अभ्यास योग' की व्याख्या कर रहे हैं अतः हमारा अभिप्राय भौतिक-साधनों के पुनः-पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न रूपी अभ्यास से नहीं अपितु योग ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों से है। इसी हेतु यौगिक क्षेत्र में पुनः-पुनः किये जाने वाले प्रयत्नों को ही अभ्यास योग की संज्ञा दी जा सकती है। साधक द्वारा अपने चञ्चल मन को जो समाधि लाभ के लक्ष्य विषय से हटकर अन्य भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर दौड़ जाता है, उसे उन-उन विषयों से खींचकर लक्ष्य विषय में लगा देने के लिए किये जाने वाले प्रयत्न का नाम ही अभ्यास अथवा अभ्यासयोग है। भौतिक सुख सुविधाओं को हासिल करने के लिए जो प्रयत्न पुनः-पुनः किये जाते हैं वे अभ्यास कहे जा सकते हैं, अभ्यास योग नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता में जहाँ-जहाँ भी अभ्यास शब्द आया है उसका सम्बन्ध योग की दिशा में किये जाने वाले अभ्यास से ही है। इसलिए भगवान ने कहा है यदि तू परमानन्द अथवा परम पुरुष की प्राप्ति की इच्छा रखता है तो अनन्य भाव से मेरे में अपना मन स्थिर कर। मन स्थिर नहीं होता है तो मनको स्थिर अथवा वश में करने का अभ्यास कर, क्योंकि जिसका मन वश में नहीं होता ऐसे साधक को योग दुष्प्राप्य ही रहता है। प्राप्य यह उन्हीं साधकों को होता है जो योग निष्ठ अथवा अभ्यास योगयुक्त होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय आठ में कृष्ण ने अभ्यासयोग की महिमा की ओर इंगित करते हुए पुनः जगदात्मा श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(गीता 8/8)

अर्थात् हे पार्थ यह सृष्टि का नियम है कि परमेश्वर के अभ्यास रूप योग से युक्त, दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ साधक परम प्रकाश रूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है।

यौगिक क्षेत्र में 'अभ्यास-योग' की सीमा में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के निरन्तर अभ्यास को भी समाहित कर लिया गया है। योग के इन सभी अङ्गों को निरन्तर पालना ही अभ्यास-योग है, ऐसा अधिकांश विद्वानों का कथन है। अध्यात्म साधना के सभी साधकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मन वृत्तियों से शून्य कभी नहीं रहता। जल की निरन्तर प्रवाहित धारा के समान असंख्य वृत्तियाँ इसमें आती जाती रहती हैं। वृत्तियों के इस आवागमन को कोई रोक नहीं सकता। किन्तु इन्हें एक मार्ग में जाने के बजाय दूसरे मार्ग की ओर मोड़ा अवश्य जा सकता है। इसीलिए योग-दर्शनकार ने चित्त-वृत्तियों के निरोध को ही योग की परिभाषा दी है, प्रत्येक योग-साधक का पहला धर्म यह है कि मन अथवा चित्त की वृत्तियों के प्रवाह को जागतिक विषयों की ओर से तोड़कर इन्हें प्रभु-चिन्तन की ओर जोड़ दे। वृत्तियों का परमानन्द रूपी प्रभु के चिन्तन का ध्यान धारा से युक्त हो जाना ही 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' सूत्र की सार्थकता का प्रथम सोपान है।

इन्द्रियों की विषय-भूमि बाहर है अतः स्वभावतः इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं। योगदर्शन के समाधि पाद के सूत्र 12वें में भी भगवान पतञ्जलि ने इनके निरोध के लिए इन्हें अन्तर्मुखी अथवा ब्रह्मोन्मुखी बनाने के लिए अभ्यास और वैराग्य के मार्ग का अवलम्बन लेने का परामर्श दिया है। यथा :

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से उनका (वृत्तियों का) निरोध होता है।

इससे आगे तेरहवें सूत्र में :

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

कहकर अभ्यास के रूप को समझाया गया है। अर्थात् चित्त की स्थिति हेतु यत्न करना अभ्यास है। यह अभ्यास दीर्घकालीन निरन्तर श्रद्धा और आदर भाव के साथ किया जाना चाहिए। ऐसा होने पर उसे दृढ़भूमि यानी स्थिरता प्राप्त होती है जैसा कि सूत्र चौदहवें में भगवान पतञ्जलिदेव कहते हैं—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कार सेवितो दृढभूमिः।

ऐसा नहीं होना चाहिए कि किसी गुण अथवा वृत्ति को ग्रहण करने का अभ्यास एक दो दस दिन किया—कभी किया—कभी न किया। अपितु दीर्घकाल तक निरन्तर बिना किसी अन्तर या बाधा के करते ही रहना चाहिए। योग साधना के अभ्यासी को—यह अत्यन्त आवश्यक है कि जिस साधन का भी वह अभ्यास करे वह श्रद्धा आदर और प्रेम के साथ करे। ऐसा न करने पर दृढ़ भूमिका प्राप्त नहीं होती।

उपर्युक्त शास्त्रीय आदेशों और नियमों के आधार पर जो साधक अभ्यास योग में प्रवृत्त होते हैं वे निश्चित रूप से अपने जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

अतः अभ्यास योग की महत्ता को समझते हुए योग-धर्म के अनुयायी सभी साधक भाई-बहनों को अपनी आवश्यकता के अनुसार इसका अवलम्बन निरन्तर सत्कार-पूर्वक दीर्घकाल तक करते रहना चाहिए।

—सम्पादक

☐ श्री आचार्य चन्द्रहास शर्मा, रीडर (दिल्ली)

युक्ताहार का रहस्य

महात्मा योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में योग का त्रिविध-दैहिक, दैविक, भौतिक दुःखों का समूल नाश करने वाला बताया है।

दुःख नाश के लिए भगवान ने पाँच अनिवार्य शर्तें रखी हैं। वे हैं—(1) युक्त आहार (2) युक्त विहार (3) युक्त कर्म एवं चेष्टायें (4) युक्त स्वप्न (5) युक्त जागरण।[1] इन सभी शर्तों में युक्त शब्द बहुत सार्थक है। गीता में विभिन्न सन्दर्भों में 'युक्त' को परिभाषित किया गया है। जैसे पंचम अध्याय के तेईसवें श्लोक में कहा है कि जो शरीर त्याग के पूर्व काम और क्रोध के तूफान को सह लेने में समर्थ हो सकता उसे युक्त कहा जाता है।[2] जो युक्त है वही सुखी मनुष्य होता है। सारे सुख का रहस्य 'युक्त' स्थिति में ही विद्यमान है। जब चित्त पूर्णतया नियन्त्रित होकर परमात्मा में केन्द्रित हो जाता है और उसके फलस्वरूप मन सभी प्रकार की कामनाओं से रहित हो जाता है तो उस अवस्था को युक्तावस्था कहा जाता है।[3] ज्ञान विज्ञान तृप्त कूटस्थ जितेन्द्रिय योगी जो मिट्टी, पत्थर व सोने में समान बुद्धि रखता है, उसे 'युक्त' कहा जाता है।[4] जो युक्त नहीं है, उसमें न ठीक-ठीक बुद्धि होती है, न भावना ही। जब भाव ही अच्छा नहीं है तो शान्ति और सुख कहाँ से हो सकता है। इस प्रकार गीता में युक्त, 'सततयुक्त' 'योगयुक्त' शब्दों का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है। आहार से सामान्य रूप से शरीर पुष्टि, जीवन रक्षा तथा क्षुधाबोध होता है। सामान्य अर्थ में आहार से ऐसे पदार्थों (द्रव्यों) का ग्रहण होता है जो चर्व्य, चोष्य, पेय या लेह्य, इन चार कोटियों में आते हैं। सभी प्रकार के पदार्थ भोज्य पदार्थ या तो चबाकर खाये जाने वाले होते हैं जैसे चने, या चूसे जाते हैं गन्ना, या दूध की तरह पेय या हलुए की तरह चाटकर खाने वाले होते हैं। विशेष अर्थ में कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने वाले सभी विषय आत्मा का आहार है। आहार प्राणों का पोषक होता है। ठीक प्रकार का आहार लिया जाय तो प्राण शक्ति ठीक कार्य करती है। यदि आहार ठीक न हुआ तो शरीर और मन तथा बुद्धि के नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। सभी प्राणियों के सारे रोग वायु के विकार से ही होते हैं। जिस वायु के विकार से जो रोग

1. युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा । 6/17
2. शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् । कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः । 5/53
3. यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते । निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा । 6/18
4. गीता 6/8
5. गीता 2/66

होते हैं उसी वायु को उचित आहार द्वारा समभाव में करने पर रोग का शमन होकर आरोग्य लाभ होता है।

वाग्भट्ट के अष्टाङ्ग हृदय में चिकित्सा के छः उपाय बताये गये हैं जैसे—हेतुविपरीत, इसमें रोग के कारण के विपरीत गुण द्वारा चिकित्सा की जाती है। यथा शीतजन्य व्याधि में उष्णतावर्द्धक उपचार। अग्नि हिमस्य भेषजम्' के सिद्धान्तानुसार प्रथम प्रकार का उपाय है। दिवास्वप्न से उत्पन्न कफविकार में जागरण करना ही उपचार है। दूसरा उपाय व्याधि से विपरीत औषध एवं अन्न, विहार से चिकित्सा करना है। दस्तों में स्तम्भ औषधि देना कृशता में संतर्पण, अतिज्वर में जल की पट्टी रखना आदि ऐसे ही उपाय हैं। तीसरे प्रकार के उपायों में हेतुव्याधि विपरीत चिकित्सा है। वातशोथ में वातहर और शोथहर औषधि एवं अन्नपान कराना। चौथे प्रकार में हेतु-विपरीतार्थकारी उपाय है। विषस्यविषमौषधम् कण्टकेनैव कण्टकम्' आदि सिद्धान्तानुसार समान धर्मी द्रव्य से रोगशमन करना। पाँचवें प्रकार का उपाय है व्याधि बढ़ाकर व्याधि का उपशमन करना। जैसे उल्टी आने पर उल्टी लाने वाला मदनफल सेवन करना। कफदोष से पीड़ित होने पर कफ-वर्द्धक गुड़ का सेवन करके उसका उपशम किया जाता है।

होम्योपैथी की औषधि इसी सिद्धान्त से दी जाती है। छठे प्रकार के उपायों में विष के लिए प्रतिविष देकर चिकित्सा की जाती है इसे हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी चिकित्सा कहते हैं। सर्पदंश में सर्पविष का इंजेक्शन इसी सिद्धान्तानुसार दिया जाता है। किस प्रकार की बीमारी में क्या देना है यह विचार 'युक्त' संज्ञक है। आयुर्वेद का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वात पित्त, कफ इन त्रिदोषों में वात ही मुख्य कारक दोष है। कफ और पित्त स्वयं पंगु हैं। जैसे बादलों को वायु जहाँ ले जाना चाहे वहाँ ले जाकर बरसा देती है, उसी प्रकार 'वात' जिसके साथ हो जाती है वैसा ही रोग हो जाता है। जब तक शरीर में वायु सम रहती है तब तक प्राण अपान, व्यान, उदान, समान वायु अपना-अपना कार्य ठीक-ठीक करते रहते हैं। वात के विषम होते ही इस प्राणों में उद्वेग होने लगता है जिससे अनेक प्रकार के रोग पैदा होने लगते हैं।

कफ का स्वाद मीठा होता है तथा पित्त का खट्टा और वात का कड़वा है। मधुर का गुण चिकना, ठंडा, धातुवर्द्धक, नेत्रों को हितकर, स्थूलताजनक, मल में कीड़े उत्पन्न करने वाला तथा वात पित्त का नाशक है। अम्लरस (खट्टा) गर्म, बाहर ठंडा अकारा, रुचिवर्द्धक, पित्त, कफ और रक्त की वृद्धि करने वाला, दांत नेत्र, भौंह का संकोचन करता है। लवण (नमक) शोधन करने वाला रुचि बढ़ाने वाला, पाचक, कफ, पित्त कारक पुरुषत्व और वातनाशक, शैथिल्य कारक तथा शरीर को कोमल बनाने वाला होता है। तिक्त रस (चटपटा) ठंडा, प्यास, मूर्च्छा, ज्वर पित्त और कफ का नाशक, रुचि बढ़ाने वाला स्वयं कम अच्छा लगने वाला, कण्ठ और स्तन को शुद्ध करने वाला है। कटुरस (कड़वा) रूखा, कफ, खुजली और विष का नाशक, वात, पित्त अग्नि को बढ़ाने वाला, सुखाने वाला, पाचक और रुचि बढ़ाने वाला है। कषाय रस घाव को भरने वाला, मल रोधक स्तम्भक, शोधक, ठंडा, कफ, रक्त

और पित्त का नाशक, जीभ को जड़ (शून्य) करने वाला और हल्का है।

इस प्रकार आहारों में ये छः रस पाये जाते हैं। इन रसों का ठीक-ठीक अनुपात सेवन करने से युक्ताहार बनता है। इन छः रसों के अतिरिक्त पांच तत्व भी आहार में विद्यमान रहते हैं। पृथ्वी आदि पंचतत्वों के भारी, चिकना आदि अलग-अलग गुण होते हैं। जैसे पृथ्वी तत्व का गुण भारी है (गुरु) इसका गुण वातहर, पुष्टिकर, कफ कारक देर से पचने वाला है। स्निग्ध (चिकना) यह जलतत्व का गुण है। यह वातनाशक, कफ कारक, वीर्यवर्द्धक तथा बलकारक होता है। तीक्ष्ण (तीखा) अग्नितत्व का गुण है। यह पित्तवर्द्धक, मल दूर करने वाला, कफ और वातनाशक है। वायु तत्व का गुण सूखा है। यह वायुकारक, तथा कफनाशक है। आकाश तत्व का गुण लघु है। हलका पथ्य है, कफ नाशक तथा शीघ्रपाचक है। इन्हीं पंचतत्वों की सभी भोज्य द्रव्यों में न्यूनाधिकता पाई जाती है।

मधुर, अम्ल और कटु यह तीन प्रकार का, सभी खाये हुए पदार्थों का परिपाक होता है। कटु से अधिक बल अम्ल में, अम्ल से अधिक बल मधुर में होता है। मधुर रस पहले मीठा होता है पाक होने पर कड़वा हो जाता है। खट्टा रस पाक दशा में भी खट्टा ही रहता है और शेष (तीखा, लवण, कड़वा, कषैला) का पाक प्रायः कड़वा ही होता है। मीठा रस पकने पर कफ की वृद्धि करता है और वात पित्त नाशक है। खट्टा रस पकने पर पित्त को बढ़ाने वाला तथा वात कफ का नाशक है। कड़वा रस वात का बढ़ाने वाला और कफ पित्त का नाशक है। इन सिद्धान्तों के अनुसार ही भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में तामसिक, राजसिक और सात्विक आहार का विश्लेषण किया है।

आयुः सत्वबलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः
सात्विक प्रियाः ॥

जिस आहार से आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रियता बढ़े ऐसा, रसीला घृतयुक्त, वीर्यवर्द्धक तथा हृदय को बल देने वाला आहार सतोगुणी (योगाभ्यासी) जनों को प्रिय होता है।

कट्वम्ल लवणात्युष्ण रूक्ष विदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामय प्रदाः ॥

कटु, खट्टे, नमकीन, अतिगरम, चटपटे, रूखे-सूखे, भीतर जलन पैदा करने वाले, दुःख, शोक और रोग पैदा करने वाला आहार रजोगुणी लोगों को प्रिय होता है।

यात यामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

पकने के बाद घण्टे तक पड़ा हुआ, नीरस, सड़ा-गला, रात का बासी दूसरे की जूठन, गन्दा आहार तामसी प्रकृति के लोगों को प्रिय होता है। सात्विक आहारी पेट का आधा भाग भोजनसे भरते है चतुर्थांश जल से और शेष चौथाई अंश वायु के लिए छोड़ देते हैं। सात्विक व्यक्ति मिताहारी और हिताहारी होते हैं। राजसी प्रकृति की व्यक्ति भोजनभट्ट होते हैं। तामसी अतिभोजन करते हैं। जैसे अधिक भार से तुला बैठ जाती है अल्पभार से ऊपर उठती है और उचित भार से सम रहती है वैसे ही युक्त आहार में शरीर स्वस्थ और चित्त सम रहता है। समचित्त से ही शरीर की सप्तधातु ठीक रहती है। चित्त के असम होने पर धातुएँ भी विकृति होकर रोग पैदा करती है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि :

'चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरम्,
नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्।
तस्माच्चित्तं सर्वदा रक्षणीयम्,
स्वस्थे चित्ते धातवः सम्भवन्ति ॥

शरीर और उसकी धातुएं चित्त के अधीन हैं अतः चित्त को सर्वदा स्वस्थ रखने के लिए युक्ताहार विहार करना चाहिए। भोजन और भाषण में जीभ को वश में रखना ही श्रेयस्कर है। स्वाद-स्वाद में अति-भोजन या अतिभाषण प्राण संहार कर सकता है।

'हठयोग प्रदीपिका' में योगाभ्यासी को मिताहार करने का आदेश है। मिताहार का लक्षण है—

'सुस्निग्ध मधुराहार चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिव संप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥

जीव और आत्मा की तृप्ति के लिए उदर का चौथाई भाग खाली छोड़कर मधुर तथा स्निग्ध (दूध, घी आदि) आहार सेवन करना मिताहार होता है। चाणक्य सूत्र में भी ऐसा ही निर्देश है- 'मितभोजनं स्वास्थ्यम् ॥ हितमितमेध्याशन तपः' भी भाष्य। भोजन प्रातः सायं दो बार ही करना हितकर है। दिन में बकरी की तरह बार-बार खाते रहना आरोग्य, दीर्घायुष्य, बल और सुख के लिए अहितकर है। भोजन ताजी हो मात्रानुसार पूर्व भोजन पचने के बाद, पवित्र स्थान में, पवित्र लोगों द्वारा दिया हुआ, शनैः शनैः प्रसन्न मन से करना चाहिए। वीर्य विरुद्ध वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए। जैसे मधुर और अम्ल, मधुर और कटु एक साथ नहीं खानी चाहिये। भोजन करने के बाद इधर-उधर घूमना चाहिए। भोजन से ही मन और वीर्य, ओज तेज का निर्माण होता है। अतः भोजन शुद्ध, सात्विक आवश्यक है। □

सच्चे गुरुदेव

काहू सों न रोष तोष, काहू सों न रागदोष।
काहू सों न बैर-भाव, काहू सों न घात है ॥
काहू सों न बकवाद, काहू सों नहीं विषाद।
काहू सों संग न तो, काहू सों पक्षपात है ॥
काहू सों न दुष्ट बैन, काहू सों न लेन-देन।
ब्रह्म को विचार कछु और न सुहात है ॥
सुन्दर कहत सोई, ईशनि को महाईश।
सोई गुरुदेव जाके, दूसरी न बात है ॥

—कविवर सुन्दरदास

☐ डा० सुशीला भार्गव

अध्यात्म में छायावाद

आध्यात्मिक शास्त्रों में अनेकों बातें केवल इशारे की तरह बतलायी गयी हैं जिसे केवल योग्य व्यक्ति ही समझ सकें। कबीर की साखियों में भी इसी तरह के कथन का पूर्णरूपेण समावेश है। उनकी उलट–बासियाँ बाह्य रूप से निरर्थक भले ही हों लेकिन गहन चिन्तन के आधार पर अति महत्वपूर्ण प्रमाणित होती हैं।

महान विभूतियों, आत्माओं तथा सन्त-महात्माओं से जुड़ी अनेकों कहानी रची गई हैं, वे प्रायः काव्यात्मक हैं और सन्त महात्माओं की महत्वपूर्ण उपलब्धियों की द्योतक हैं। यहाँ तक कि रामायण, महाभारत जैसे ग्रंथों के पात्र भी ऐसे प्रतीत होते हैं कि यह काल्पनिक हैं। दशरथ वह व्यक्ति है जो ज्ञानी है, जिसको दस रथों का स्वामित्व प्राप्त है। ये दसों रथ, दसों इन्द्रियों के द्योतक हैं। राम के पिता वे व्यक्ति हैं जिनको अपनी सभी इन्द्रियों पर स्वामित्व है, नियन्त्रण है।

यहूदियों का कबूतर शान्ति, पवित्रता, प्रेम का प्रतीक है जिसे अपनाकर मनुष्य सत्य की ओर अग्रसर होकर उसका अनुभव प्राप्त कर सकता है। जैनियों के महावीर से सम्बन्धित एक कहानी में लिखा है कि जब महावीर को सर्प ने डसा, तो उनके शरीर से रक्त नहीं दूध प्रस्फुटित हुआ। क्या किसी पार्थिव शरीर से रक्त के बदले दूध निःसरित हो सकता है? कदापि नहीं। महावीर के शरीर से निकला दूध तो केवल उनके प्रेम का प्रतीक था जो उस सर्प के लिए क्षमा रूप में प्रस्फुटित हुआ। ऐसे थे महावीर।

कहते हैं जब भगवान बुद्ध की समाधि लगी तो प्रकृति की छटा सुन्दरतम हो गई, पादप पुष्पित हो उठे। जब परम ज्ञान की प्राप्ति होती है, तो प्रकृति उस ज्ञानी को हार्दिक बधाई देने के लिए पुष्पित एवं पल्लवित हो उठती है। यहूदी कहानी के आधार पर कहा जाता है कि जीसस को उनके गुरु ने जोर्डन नदी के समीप दीक्षा दी और कहा—मेरा काम पूरा हुआ, अब मैं जाता हूँ।" इतना कहना था कि एक सफेद कबूतर आकाश से उतरा और जीसस में समा गया। सफेद कबूतर यहूदियों में शान्ति और पवित्रता का प्रतीक है। अतः दीक्षा प्राप्त करते ही जीसस शान्ति एवं पवित्रता के प्रतीक बन गये।

कहते हैं कि लाओत्से वृद्ध ही जन्मे। वृद्धपन परिपक्वता एवं ज्ञान का प्रतीक है, आशय कि लाओत्से बचपन से ही ज्ञानी थे न कि सफेद बालों व जर्जर शरीर वाले। उसी प्रकार जीसस सूली पर चढ़ने के पश्चात् पुनर्जीवित हो गये। इसका अर्थ जीसस का अमरत्व प्राप्त करना है। महाभारत के राजा धृतराष्ट्र मोह के प्रतीक हैं। रामायण में राजा दशरथ की कौशल्या ज्ञान की, कैकेयी क्रिया की एवं सुमित्रा भक्ति की प्रतीक हैं। आशय यह है कि दसों इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने वाला पुरुष ज्ञानी, भक्त एवं कर्मयोगी बन जाता है। माला के 108 दाने विभिन्न वृत्तियों और सुमेरुनी दाना उसी एक से मिलने यानि समाधि का द्योतक है। किसी ज्ञान की सर्वोत्तम उपलब्धि समाधि या परमात्म-चेतना से एकाकार होना ही है।

हिन्दुओं के विभिन्न तीर्थ शरीर में छिपे विभिन्न चक्रों के द्योतक हैं जिनसे होते हुए जीव परमधाम को पहुँचता है। विविध आख्यानों एवं गाथाओं से यही ज्ञात होता है कि धर्मशास्त्र, मूर्ति, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, तीर्थ, सभी आध्यात्मिक दिशा-सूचक हैं। ये वास्तविकता की ओर इंगित करते हैं। अतः जिज्ञासु को बाह्य रूप तक सीमित नहीं रह जाना चाहिए, अपितु उन्हें तो प्रतीक जानकर वांछित लक्ष्य की ओर निरंतर अग्रसर होने का हमें सार्थक प्रयत्न करना चाहिए। ('अध्यात्म ज्योति' से साभार)

उपवास का महत्त्व

अजीर्ण से शरीर में अनेक रोग होते हैं। अजीर्ण का नाश करने के उपाय औषधि सेवन नहीं है, परन्तु उपवास करना ही है। औषधि-सेवन करने से वीर्य दोष होते हैं, परन्तु उपवास से वीर्य दोष न्यून होते हैं। उपवास से न केवल शरीर शुद्ध होता है, प्रत्युत मन भी पवित्र होता है। योग्य समय में उपवास करने से स्वप्न-दोष हट जाते हैं। यदि अन्न वर्जन पूर्वक उपवास करना अशक्य हो तो फलों का रस थोड़ा-सा पानी लेना उत्तम है, परन्तु यह भी अत्यन्त अल्प। अपचित आम पेट से दूर करना और इस उपाय से स्वप्नदोष हटाना उपवास से ही सम्भव होता है। अन्य उपाय इससे कम उपयोगी हैं। उपवास के पश्चात् दुग्धाहार तथा अत्यन्त सुपाच्य लघु भोजन करना सदैव हितकर रहता है।

—एक साधक

☐ सन्त दर्शनानन्द

ज्ञानी की महिमा

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

'हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्मसात कर देती है वैसे ही ज्ञान-रूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देती है ।' (गीता : 4,37)

ज्ञानी को कर्मों का लेप नहीं लगता क्योंकि ज्ञानरूप अग्नि में उनके सारे कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं । ज्ञानी के पूर्व कर्म तो नष्ट हो ही जाते हैं, किन्तु उनके द्वारा जो नये कर्म होते हैं उनका फल पुण्य या पाप कुछ भी उन्हें नहीं मिलता । ज्ञानी कर्त्ता नहीं होते । ज्ञानी के द्वारा हुए पापकर्म, जैसे उनसे अनजाने में किसी जीव-जन्तु की हिंसा हो गई या मन, वचन, कर्म से उनसे कुछ हो गया तो जो उनकी निन्दा करता है वह पाप-कर्म का फल ले जाता है और जो उनकी सेवा करता है, उनका प्रशंसक है वह उनके पुण्यकर्म का फल ले जाता है । ज्ञानी पुण्यकर्म एवं पापकर्म दोनों से निर्लेप रहते हैं । तमाम प्रकार के सुख उनको आकर्षित नहीं कर सकते, क्योंकि उन्होंने परमसुख का अनुभव किया है ।

'स तृप्तो भवति ।' वह ज्ञानी आत्म-सुख से तृप्त हो जाता है ।

यदि आप मूलबंध करके ध्यान में बैठें तो मन ऊर्ध्वगामी होता है, पतन से बचाता है । जालंधर बंध से बुद्धि का विकास होता है । ध्यान करते-करते जब ऊँचे केन्द्रों में आया जाता है, छोटे-छोटे सुख का आकर्षण घटता जाता है, तब ध्यान-जप प्रिय लगने लगता है, एकान्त प्रिय लगने लगता है । भीड़-भड़ाके से उपरामता होती जाती है । ज्यों-ज्यों ऊपर उठते जायेंगे, त्यों-त्यों हल्की चेष्टाओं में रुचि कम होती जायेगी ।

साधक बुद्धिगत ज्ञान और इन्द्रियगत भोग के बीच झूलता रहता है । साधक को चाहिए कि वह विवेक का उपयोग करके बुद्धिगत ज्ञान का आदर करता जाये और इन्द्रियों के आकर्षण को हटाया जाये ।

जितना-जितना साधक उन्नत होता है उतना-उतना उसके आसपास का वातावरण भी उन्नत होता जाता है । सत्संग मनुष्य को उन्नत कर देता है । सत्संग से अगर मन को उन्नत नहीं किया तो पतित विचारों में वह अपने आप गिरता जायेगा । सत्संग से मनुष्य विषय भोग-रहित सुख में प्रविष्ट होता है । अन्नमय कोष से हटकर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोष में जब आता है तो परम

सुख, परमात्मसुख, निरपेक्ष सुख क्रमशः बढ़ता जाता है और एक ऐसी अवस्था आती है कि पूर्ण सुख का उसको अनुभव हो जाता है। पूर्ण सुख का अनुभव होने से ज्ञानी के जो वर्तमान कर्म हैं वे तो ज्ञानाग्नि से जल जाते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्म से उनकी शरीरयात्रा चलती रहती है। जैसे कि, तुमने मोटर चलायी, मोटर तो चली, अब तुमने इन्जिन बन्द कर दिया, लेकिन मोटर को जो गति मिली हुई है उसके फलस्वरूप इंजिन बन्द होते हुए भी वह चलती रहेगी। क्रमशः उसकी गति कम होते हुए आखिर में खड़ी रह जायेगी। ऐसे ही ज्ञानी के जो प्रारब्ध कर्म हैं उन्हें पहले की जो गति मिली है उसके कारण ज्ञानी के शरीर का व्यवहार चलता रहेगा। प्रारब्ध कर्म का भोग खत्म होते ही ज्ञानी का यह पंचभौतिक शरीर पंचभूतों में लीन हो जाता है, सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म भूतों में लीन हो जाता है और आत्मा तो परमात्मा से मिला हुआ ही है। ऐसे तो अज्ञानी का भी, जिसको आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ है, उसका भी आत्मा परमात्मा से मिला हुआ है। घड़े के अन्दर जो आकाश है, वह आकाश महाकाश से मिला हुआ है। लेकिन जो जानता है उसकी बलिहारी है।

सब घट मेरा साँईया, खाली घट ना कोय।
बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय॥

जैसे अग्नि तो सब लकड़ियों में है लेकिन उस लकड़ी की बलिहारी है कि जिस लकड़ी से अग्नि प्रगट हो गई। प्रगट अग्नि हो अंधेरा मिटायेगी, ठंड मिटायेगी, रसोई बनायेगी, तृप्त करेगी। सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, परमसुख स्वरूप आत्मा जिसके अन्दर प्रगट हो गया उसकी बलिहारी है। सामान्य लकड़ी में जो अग्नि है उससे काम नहीं चलता, जहाँ अग्नि प्रगट होती है उससे काम होता है। ऐसे ही जिनमें परमात्मा प्रगट हुआ है उनके सान्निध्य से, पाप के पर्वत जिनके मस्तक पर हैं वे भी निष्पाप होने लगते हैं। वे अभक्त को भी भक्त बना देते हैं, नास्तिक को आस्तिक बना देते हैं और आस्तिक को परमात्म-सुख का अनुभव करा देते हैं। जगे हुए जो महापुरुष हैं उनके सान्निध्य में असाधक भी साधक होने लगते हैं, अवनति की ओर जाने वाले उन्नति की ओर चल पड़ते हैं। जैसे हिमालय में बर्फ गिरती है तो उसकी शीतलता दूर-दूर तक पहुँचती है, ऐसे ही जो व्यक्ति आत्मज्ञान में मग्न हो जाता है उसकी उपस्थिति मात्र से ब्रह्मलोक तक के जीवों को लाभ होता है।

☐ जो लोग सर्वथा हतभागी बन गये हैं, उनके लिए ऊपर आने का कोई मार्ग है, तो वह स्वावलम्बन, स्वार्थ त्याग और धैर्य ही है।

×   ×

☐ स्वावलम्बन जैसी दूसरी फायदा व्यवस्था नहीं और हमारी कमाई जैसा कोई राजदण्ड नहीं।

—लोकमान्य तिलक

□ श्री विष्णु प्रसाद व्यास

अब देर क्यों ?

विश्वनाथ ! जरा रुको तो यह कौन मधुर स्वर में गा रहा है ? नीलकण्ठ ने कहा । देखो गिरिकन्दरा से आती हुई इस स्वर-लहरी को ध्यान से सुनते हैं :

"इतः कोऽन्वस्ति मूढात्मा,
यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।
दुर्लभं मानुषं देहं,
प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥

"अरे ! वह कैसा मूर्ख पुरुष होगा जो इस जन्म में नर देह को पाकर भी सांसारिक धन्धों में मग्न रहता है-क्या वह नहीं जानता कि यह मानव-काया देवताओं को भी दुर्लभ है ?"

'यह यों ही प्रलाप है—कोई होगा दुःखों का मारा, जो ऐसा कह रहा है । चलो आगे चलें—हमें क्या कमी है ! दुःख दर्द का तो अवकाश ही नहीं, इसे देखने का । कैसी सुख-मयी जिन्दगी है हमारी ।' विश्वनाथने उत्तर दिया-और दोनों घुड़सवार आगे बढ़ गये ।

गगनमण्डल में नीली घटाएँ बड़ी मस्ती में घुमड़ रही थीं—झीनी-झीनी फुहारें कभी-कभी पड़ जाती थीं । शीतल-मन्द समीर बह रहा था । वे अभी दस कदम ही चले थे कि फिर उनके मन-मस्तिष्क को आन्दोलित करता हुआ एक स्वर दिशाओं में गूँज उठा :

"वदन्तु शास्त्राणि भजन्तु देवान् ।
कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।
आत्मैक्य बोधेन विना विमुक्तिर्न,
सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥
—आद्य शंकराचार्य (विवेक चूड़ामणि)

कोई शास्त्रों को कितना ही छानले, देवताओं का पूजन करले, सूर्य चन्द्रादि देवों की स्तुतियों में तल्लीन रहता रहे, किन्तु उसका कुछ नहीं बनेगा चाहे लाखों वर्ष भी क्यों न व्यतीत हो जायें परन्तु जब तक आत्मा अपने परमात्म तत्त्व में समाहित नहीं हो जाती तब तक उसका परमधाम में प्रवेश न होगा, न होगा ।"

नीलकण्ठ विचारवान् और जिज्ञासु पुरुष था-यद्यपि उसके पास भरपूर भोगैश्वर्य थे किन्तु उसके मर्मस्थल को इन ऊपर के शब्दों ने एकदम से छू लिया ।

विभो ! चलो उधर ही चलें—इन वचनों में अमृत है, जागरण है, मानव जीवन का जगमगाता सन्देश है—अवश्य ही इसका गायक कोई सिद्ध पुरुष होगा । उसके मन में पीड़ा है—वह विश्व को विनाश पर डग बढ़ाते हुए नहीं देख सकता । नीलू ! आज तुम्हें क्या हो गया है ? कितने मधुमय संसार में हमें विधाता ने विचरण करने के लिए भेजा है—यह सब जगत के भोग्य पदार्थ यों ही हमें थोड़े ही मिल गये हैं ये हमारे सहस्रों जन्मों के पुण्य कर्मों का फल है—जाओ उस

मृग छोने पर शर-सन्धान करें—कितना चपल सुरम्य और मनो-मुग्धकारी है वह हिरण।

श्री गुरुदेव जी कथन करते हैं कि ऐ जीव ! तू जो रात-दिन झूठे और सच्चे कष्टों में जलता रहता है ये तेरे किसी काम भी न आवेंगे। जिसने प्रभु के नाम का आराधन नहीं किया उसका सारा जीवन ही निष्फल चला गया।

नाम-जप के बिना तेरी सारी सांसारिक कामों में की हुई चतुराइयां किसी काम न आयेंगी। बुद्धिमत्ता तो मनुष्य की इसी एक बात में है कि वह ईश्वर के नाम को हृदय में धारण करके जगत् के सकल व्यवहार करता चले।

नीलकण्ठ—विश्वनाथ ! हमें उन जीवन-दायी वचनों का यों ही तिरस्कार नहीं करना चाहिये—ऐसे परोपकारी पुरुष के दर्शन करने से हमें बड़ा लाभ होगा।

दोनों वहां जाते हैं।

उन महात्माजी के चरणों में अभिवादन करके सामने बैठ जाते हैं।

महात्मा—आपका इधर आगमन कैसे हुआ ?

विश्वनाथ—हम दोनों आखेट के विचार से इस प्रदेश में आये थे, और एक घने वन में प्रवेश करना ही चाहते थे कि आपके प्रवचनों ने हमें उधर जाने से रोक दिया। और आप जैसे महान् आत्माओं के दर्शनों की लालसा यहां खींच लाई है।

महात्मा—सौभाग्यशाली हैं आप और निर्मल आत्मा हैं आपकी जो हमारे सत्संग भरे दो तीन वचनों से ही प्रभावित होकर आप इधर आ गये।

नीलकण्ठ—महात्मा जी ! हम संसारी जीव अपने कल्याण के मार्ग को भूले रहते हैं मन और इन्द्रियों की परितृप्ति में ही इस जीवन की अमूल्य घड़ियों को गँवा देते हैं। अत्यन्त अनुकम्पा होगी आपकी यदि आप हमारा मार्ग दर्शन कर सकें।

महात्मा—देखिये चौरासी लाख योनियों में 8399999 तो हैं केवल भोग योनियां। इन भोग योनियों में तो यह जीव अन्धकार पूर्ण एवं सुख दुखों से भरी हुई घाटियों में से निकलकर इस उभय योनि अर्थात् कर्म+भोग योनि रूप मनुष्य जन्म में आया है। इसमें भी यदि हरि के नाम को अपने हृदय में स्थान न दिया तो सन्त सत्पुरुषों की दृष्टि में उसका जीवन व्यर्थ ही बीत जायगा। इसलिए सन्त महापुरुष बड़ी सुन्दर युक्ति बतलाते हैं कि जगत् में व्यवहार करते हुए कैसे चलो :

सुमिरन की सुधि यों करें, ज्यों गागर पनिहार,
हाले-डोले सुरति में, कहे कबीर विचार।
सुमिरन की सुधि यों करें, जैसे दाम के भाव,
कह कबीर विसरे नहीं, पल-पल लेइ सम्हाल ॥

जल भरी गागरें सिर पर रखे हुए पनिहारिनें घर की ओर चली जा रही है—परन्तु मार्ग में आपस में कितनी ही सुख-दुःख भरी बातें भी करती जाती है किन्तु उनकी गागरें अपनी जगह स्थिर रहती हैं कारण कि उनमें पनिहारिनों की सुरति अटकी हुई है। इसी प्रकार से एक सच्चे साधक का व्यावहारिक जीवन होना चाहिये। वह काम-काज करते हुए अपने नाम-मन्त्र को सदा संभालता रहता है।

पूछिये न एक कंगाल से जिसे धन-संचय करने का बड़ा ही लालच होता है। वह चलते-फिरते, उठते-बैठते खाते-पीते और सोते-जागते अपने पैसों को देख लेता है कि कहीं खो तो नहीं गये है। ऐसे ही संसार में

अपना जीवन-यापन करते हुए एक संस्कारी पुरुष सद्गुरु के दिये हुए नाम को कभी भुलाता नहीं। यही है एक सफल मन्त्र संसार में सुखमय बनकर जीने का।

जिज्ञासु का जीवन सर्व-साधारण जीवों की अपेक्षा एक विशेषता को लिए हुए होता है। ढाई हजार वर्ष पूर्व महाराज शुद्धोदन के एक मात्र पुत्र समर्थ सिद्ध अथवा सिद्धार्थ हुए हैं। वे असाधारण दिव्य पुरुष थे। उन्होंने कपिलवस्तु की शोभामयी और धन-धान्य सम्पन्न नगरी का जब अवलोकन किया तो उनके समक्ष वृद्ध, रोगी, मृत और परिव्राजक के रूपों में चार निमित्त प्रकट हुए। वे स्तब्ध रह गये। उनके विशुद्ध अन्तर्मानस ने उन चारों को देखते ही एक विद्रोह खड़ा कर दिया और गौतमबुद्ध को राजभवन छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। छः वर्ष गौतम संन्यास अवस्था में रहे और अपने शिष्यों को एक दिन बड़ी गम्भीरता के साथ यों समझाने लगे :

"भिक्षुओ! बुद्धत्व की प्राप्ति से पूर्व, जबकि मैं बोधिसत्व ही था और सम्यक् ज्ञान के लिये प्रयत्न कर रहा था तब मैंने देखा कि मैं स्वयं जन्म-जरा-रोग-मृत्यु और दुःख से पीड़ित हूँ और साथ ही खोज भी मैं ऐसे ही पदार्थों (पुत्र) दारा, दास-दासी, सोना-चाँदी) की करता हूँ, जिनका स्वभाव जन्म-जरा, रोग, मृत्यु और दुःख है। उस समय हे भिक्षुओ! मुझे विचार हुआ कि मैं क्यों जन-साधारण की भाँति उन्हीं पदार्थों के पीछे दौड़ रहा हूँ जो मुझे भी पश्चाताप की ज्वालाओं में दग्ध कर देंगे। मुझे उस वस्तु के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये जिसके परिणाम में ये सब आधि-व्याधि और उपाधि दृष्टि-गोचर न होती हों। ओहो! यह लोक दुःख में पड़ा हुआ है यहाँ जन्म लेना है और मरना है। मुझे तो इन इच्छाओं से ऊपर उठना होगा।" इस दृढ़ संकल्प ने ही सिद्धार्थ को भगवान बुद्ध बना दिया।

ऐसी जागृति सन्त सद्गुरुओं के पुनीत चरणारविन्दों की प्रीति में उत्पन्न होती है। उनके विमल संसर्ग में ज्ञान का प्रकाश होता है। प्रकाशमय जीवन से ही एक सच्चे साधक के मार्ग अपने आप ही प्रशस्त होते चले जाते हैं।

श्री भगवानकृष्ण चन्द्र जी अर्जुन को मानुष जन्म को परिपूर्ण बनाने की एक ही कसौटी बतलाते हैं :

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

—गीता अ. 6, श्लोक 46

हे अर्जुन! योगी पुरुष तपस्वियों से, ज्ञानियों से और कर्मकाण्डियों से श्रेष्ठ माना गया है। इसलिये तू योगी बन।

श्री भगवान का तात्पर्य यह है कि ऐ अर्जुन तुझे सबसे पहले अपनी मनोवृत्ति को अपने उस परमेश्वर से जोड़ लेना चाहिये—मनोधारा जब भगवान के चरणारविन्दों के साथ जुड़ी होगी उस दशा में तेरा किया हुआ तप, तेरा संचित हुआ ज्ञान और तेरे किये हुए कर्म सर्वसाधारण जीवों से कहीं श्रेष्ठतर होंगे क्योंकि तुझे हर समय यह एक विचार अन्दर ही अन्दर इस प्रकार की प्रेरणा दे रहा होगा कि मेरे हर एक कर्म की चेष्टा को, चिन्तन व ज्ञान को वह मेरा मालिक देख रहा है। मैं ऐसा कोई कार्य न

कर बैठूं जिससे मेरे पूर्ण उपास्य देव रूठ जावें ? इस प्रकार का भय उसी के अन्दर हो सकता है जिसने अपने चित्त के तार को अपने आराध्य देव के संग जोड़ा हुआ है।

जिसका मन सत्पुरुषों के वचनों के साथ सम्बन्ध ही नहीं है उसकी हर एक दिनचर्या उसके अपने त्रिगुणात्मक मन की इच्छा के अनुसार ही होगी—जैसा मन कहेगा वैसा वह करता जायेगा। यदि मन रूपी गड़रिये ने ही हमारी इन्द्रियों रूपी भेड़ों को नर-काया में भी संसार की ओर ही हाँकना था तो इस मनुष्य जन्म की गरिमा कौनसी हुई ? यह कार्य तो खग-मृग, कीट-पतंगादि की योनियों में निर्बाध गति से होता ही रहा है यदि इस मनुष्य तन में भी हम मनोदेव के अंकुश के नीचे अपने जीवन को चलाते रहे तो जैसे पहले मुक्त नहीं हो सके वैसे अब भी न हो पायेंगे।

मनुष्य ने मात्र शारीरिक तप न करना मन और बुद्धि की दिशा को भी बदलना है। शरीर के तप पर प्रकाश डालते हुए श्री भगवान का कथन है :

देवद्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
—गीता अ. 17 श्लोक 14

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा 'इसे शारीरिक तप' कहते हैं।

सन्त सद्गुरु परम सन्त ऐसी ही दिव्यातिदिव्य विभूतियों का नाम होता है। वे स्वयं परमेश्वर रूप हैं, उनको शास्त्रकारों ने 'परब्रह्म' कहकर स्मरण किया है। जैसे कि :

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्पर ब्रह्म तस्मै श्री गुरवेनमः ॥
—गुरु गीता

अर्थात् "गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु और गुरु ही भगवान महेश्वर हैं। तथा गुरु ही साक्षात 'परब्रह्म' है। उन अपने सद्गुरु देव को नमस्कार है।"

अतएव उस परब्रह्म को मिलने में देर क्यों करें। उन सद्गुरु देव भगवान के सम्पर्क में आने का पूरा प्रयास करना चाहिए। उनसे मिलन कैसे हुआ करता है ? इस पर भी तनिक विचार कर लेना अनुपयोगी न होगा।

सबसे पहला और अत्यावश्यक अंग है 'अभीप्सा' अर्थात् उन्हें प्राप्त करने की इच्छा। जब तक आपके मन में उनके दर्शन करने का विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ तब तक तो यह समझना चाहिये कि आपका अन्तर्जगत अविद्या और माया के घोर तम से ही आच्छादित है। मान लिया कि आपने चारों वेदों का और अन्यान्य सद्ग्रन्थों का पाठ किया हुआ है। आपके कोष में सुवर्ण-रत्न-हीरे-लाल और जवाहर आदि रत्नों का भंडार भरा है। सभा-समाजों में आपकी अच्छी प्रतिष्ठा भी है परन्तु इन सबके होते हुए भी आपका चित्त अभी अशान्त है। वह किसी ऐसी दिव्य शक्ति के अनुसन्धान में अन्दर ही अन्दर तड़पता है जिसे पाकर वह सहसा प्रशान्त हो सके। इसका नाम है 'अभीप्सा' अर्थात् मुझे कोई उस अलौकिक विभूति से भेंट करा देवे। सच मानिये

परमात्मा की ओर उठाया हुआ एक भी छोटे से छोटा विचार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को तरंगित और प्रकाशित कर देता है। सन्त सद्गुरु एक प्रकार के ऐसे विद्युत-संचालन संयन्त्र हैं जिनसे सम्पर्क से विराट ब्रह्म की अनुभूति के केन्द्र स्वयमेव आन्दोलित होने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्व तत्वा विज्ञान सद्गुरु अपनी अति सूक्ष्म शक्ति से उस उत्कट दर्शनाभिलाषी जिज्ञासु को किसी न किसी रूप में अपने संकेत भेज देते हैं अथवा स्वप्नावस्था में ही अपने पावन दर्शनों से उसे कृतार्थ कर देते हैं। उनके अनेक रूपों में प्रकट होने के कितने ही प्रमाण हैं।

सद्गुरु की पहली झाँकी में ही सच्चे साधक का हृदय हर्षोल्लास से पूर्ण हो जाता है—फिर तो उसके जीवन की धारा बिजली के दो खम्भों के बीच में प्रवाहित होती हुई विद्युत्शक्ति के समान बहने लगती है। शिष्य में स्वतः ही उत्सुकता, प्रेम, श्रद्धा और जिज्ञासा की सूक्ष्म तरंगें प्रतिपल उठती रहती हैं और वह किसी अदृश्य शक्ति से अपने इष्टदेव के सम्मुख उनके श्री चरणारविंदों में अपने को बैठा हुआ पा लेता है।

सन्त सद्गुरु साकार निर्गुण ब्रह्म ही तो है। उनके दर्शन, स्पर्शन, और सम्भाषण से जीव की अन्तर्दशा में सहसा परिवर्तन होने लगता है। आँखों-आँखों में ही शिष्य के सम्पूर्ण संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उनके अलौकिक संस्पर्श मात्र से शिष्य की सांसारिक बुद्धि में अद्भुत विप्लव होता है वह सम्पूर्ण योग्यता, चतुरता, विचक्षणता और अशेष अपना बुद्धि कौशल भूल जाता है। उनकी समीपता में एक विचित्र सा आकर्षण होता है जिससे जीव-बुद्धि कहीं खो जाती है और वह ठगा-सा रह जाता है। साधक का शरीर अपनी चेतन सत्ता को, मन चंचलता को और बुद्धि तर्क-वितर्क करने की शक्ति को विस्मृत कर देती है। उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है और वह परमात्मा के ही ध्यान में तल्लीन होता है।

सद्गुरु की प्राप्ति का कितना उत्कृष्ट महत्व है। प्रथम दर्शन में ही जीव के अन्दर विविध मतों के श्रवण से सब प्रकार के आये हुए संशयों और भ्रान्तियों का सर्वनाश हो जाना यह एक चमत्कार है जैसे कि :

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥
—गीता अ. 2 श्लोक 53

भाँति-भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब तू योग प्राप्त कर लेगा अर्थात् तेरा परमात्मा से नित्य संयोग हो जायेगा।

इस मार्ग का नाम सद्गुरु भक्तियोग है। सद्गुरु की प्राप्ति करके स्वतः ही काम क्रोधादि शत्रुओं का क्षय होने लगता है। योग-दर्शन में प्रतिपादित अष्टांग योग के साधनों को सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञानयोग से भक्ति-योग कहीं श्रेष्ठतर और श्रेयस्कर है।

देखिये, कृषक किसी खेत को जल देता है तो इसके दो ही मार्ग हैं या तो कुआ चलाकर उसे सींचा जाय अथवा नहर का किनारा काटकर एकदम से थोड़े समय में ही खेत भर लिया जाय। पहले प्रकार को ज्ञान और कर्मकाण्ड का मार्ग कहते हैं और दूसरा मार्ग भक्ति का है।

सद्गुरु द्वारा मिले हुए नाम मन्त्र के अनुष्ठान से जिस समय अन्तःकरण सर्वथा विशुद्ध हो जाता है उस दशा में किया हुआ सब कर्म निष्काम होता है। ऐसे कर्त्ता को

कर्म करते हुए भी उस कर्म के बंधन बाँधा नहीं करते। वह अपने सब कर्मों को अपने इष्ट देव की आज्ञा और मौज के वश में होकर ही करता है। उसमें उसे कर्तापन का अभिमान नहीं रह जाता जैसे कि :

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
—गीता अ. 5 श्लोक 7

जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरण वाला है, जो सम्पूर्ण प्राणियों में व्याप्त परमात्मा को ही अपना आत्मा मानता है—ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्म-बन्धन में नहीं आता। ऐसे निष्काम गुरु-भक्त की भावना क्या होती है ?

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
—गीता अ. 5, श्लोक 8-9

जिसने अपने आपको स्वकीय इष्टदेव रूप, सद्गुरु में विलीन कर दिया है वह सर्वदा ही अन्तर्मन में यही एक विचार किया करे कि मैं वास्तव में तो कुछ भी नहीं करता हूँ यह मेरा देखना, सुनना, छूना, सूँघना, खाना, जाना, सोना, श्वांसलेना, बोलना, छोड़ना, लेना, आँखों को खोलना, और बन्द करना किसी अन्य शक्ति के द्वारा हो रहा है। सारी इन्द्रियाँ स्वतः अपने विषयों का सेवन करती हैं। यह सन्देह रहित सत्य है।

कितना सुगम और सुबोध मार्ग है सद्गुरुदेव की शरणागति का। अहम्भाव का तो सर्वथा नाश हो जाता है इस पथ पर चलते हुए।

अहंकार ही उन्मत्त गजेन्द्र है तो ब्रह्म साक्षात्कार की ओर बढ़ते हुए साधक को अपने पाँव तले भेद डालता है। सद्गुरु के चरण कमलों में जिसने अपनी प्रीति के तार की दृढ़ता से जोड़ दिया है वह हर समय यही गुनगुनाता है :

कबीर न हम क्या न करेंगे,
न कर सके शरीर।
क्या जानूँ किधर किया,
भयो कबीर कबीर॥
बालक रूपी साइयाँ,
खेलें सब घर माहिं।
जो चाहे सो करत है,
भय काहू का नाहिं॥

जो कुछ भी संसार में हो रहा है सब वही मेरा मालिक कर रहा है। मुझमें करने की रत्ती भर भी सामर्थ्य नहीं है। इसलिए वही सर्वोपरि है।

वह मेरा नयनाभिराम इष्टदेव बालरूप में हर एक के हृदय के आँगन में खेल रहा है। उसी का खेल देखते रहना यही हमारा धर्म है। प्रभु भक्त को चिन्ता और भय कैसा ?

ये हैं हमारे मनोमोहक उपहार जो मानव जन्म से एक सच्चे साधक को पग-पग पर मिला करते हैं—फिर हम ऐसी देव दुर्लभ ईश्वरीय कृपा को ओढ़ लेने में विलम्ब क्यों करें ?

इष्टदेव का आराधन अत्यन्त मधुर होता है, छत्रपति शिवाजी के सिर पर समर्थ

सद्गुरुदेव श्री रामदासजी का वरदहस्त (कल्याणमय) हाथ था तभी वे इतना विशाल साम्राज्य स्थापित कर सकें। उनका जीवन यशस्वी बन गया। उनके चरित्र में इतना निखार गुरु कृपा से ही तो आया था जो एक रूपवती मुगल नारी को उपहार रूप में किसी सैनिक द्वारा प्राप्त करके भी उसे बड़े आदर के साथ पालकी में बिठलाकर उसके सम्बन्धियों के पास भिजवा देते हैं।

सन्त सद्गुरु सगुण साकार ब्रह्म ही तो है निर्गुण निरवयव ब्रह्म से अभिन्न होते हैं। उनकी हार्दिक प्रसन्नता को उपलब्ध करने के लिए तीन गुणों को धारण करने की आवश्यकता है :

(1) विवेक (2) वैराग्य (3) विनय। ये तीनों अलौकिक तेज को प्रदान करने वाले दुर्लभ गुण हैं—इन गुणों को अपनाने से ही इष्टदेव की भक्ति का पूरा आनन्द लिया जा सकता है। इन गुणों की छाया में बहने वाली सगुण भक्ति की धारा सुरक्षित रहती है और चिरस्थायिनी होती है और इससे सैकड़ों ही दूसरे व्यक्ति लाभ उठाते हैं।

(१) विवेक

विवेक की ज्योति में साधक का मार्ग उत्तरोत्तर प्रशस्त होता जाता है वह अपने पथ से भ्रष्ट नहीं हो सकता।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम अपने भाई भरत जी को एक स्थान पर विवेक के सम्बन्ध में कैसा रुचिर उपदेश करते हैं :

परस्त्री मातेव क्वचिदपि न लोभः परधने,
न मर्यादा भङ्गः क्वचिदपि न नीचेष्वभिरतिः।
रिपौ शौर्यं धैर्यं विपदि विनयः सम्पदि सदा,
इदं वच्मो भ्रातर्भरतः नियतं ज्ञास्यसि मुदे॥

हे भाई भरत! परनारी को माता के सदृश समझना, पराये धन का कभी लोभ न करना, धर्म मर्यादा को कभी भंग न करना, नीचों की संगति में कभी रुचि न लेना, शत्रु के प्रति शूरता दिखलाना, विपत्ति में धैर्य और सम्पत्ति में विनम्र रहना—ये सब प्रसन्नता के निश्चित हेतु हैं। ऐसा जानो।

ये हैं गुण जिनको आत्मसात् कर लेने से जीव अपने चरित्र को जहाँ उज्ज्वल करता है वहाँ अपने उपास्यदेव की कृपा का सत्पात्र बन जाता है। ये वचन दाशरथ श्री रामचन्द्रजी के मुखारविन्द से निकले हुए हैं। ये गुण अवश्य ही जीवन का उद्धार कर देंगे। विवेक का सरलार्थ है 'परख करना' किसकी? सत् और असत् की यही रहस्यमय तत्व है जिसका विवेचन करना प्रत्येक मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुष के लिए अनिवार्य है। एक पंक्ति में कहें तो "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" परमसन्त कबीरजी की भाषा में कहें तो :

"नाम सत्य जग झूठ है सुरत शब्द पहचान"

अर्थात् सत्य वस्तु केवल परमेश्वर का नाम है। और बाकी सब दृश्यमान एवं परिवर्तनशील व विकारी संसार असत् है। इस सत्य का अन्तस्थल में विनिश्चय करना ही विवेक है। विवेक सम्पन्न पुरुष की दृष्टि क्या से क्या हो जाती है? कर्मयोगी जिज्ञासु को विवेक निष्ठ बनने में कदापि विलम्ब नहीं करना चाहिये।

(२) विराग

अपने आराध्य देव से राग भी तो करना

होगा—अतिशय अनुराग उग्रराग। और यह तभी हो सकेगा जब मनोदेव ने विश्व के कणकण से अपनी आसक्ति को छुड़ा लिया होगा। इष्टदेव के चरण सरोज के अतिरिक्त और कुछ भी प्रिय न लगे—इसे दार्शनिक ग्रन्थों में "विराग" कहा गया है। विराग ही वैराग्य है यानी राग का अभाव होना।

श्री गुरुदेव जी कथन करते हैं कि ऐ जीव! भगवत्प्राप्ति का आनन्द अतिशय है। संसार की बाह्य रमणीयता पर लट्टू मत हो। यह घड़ी भर के लिए अतिथि है। तू नर है अब नारायण हो जाने के लिये आतुर हो जा। विलम्ब मत कर यहीं जीवन की सिद्धि है।

(३) विनय

प्रभु के प्यार में अपने को मिटाना होगा। बड़प्पन की भावना को गवाना होगा। सन्त रामतीर्थ एक पत्र में अपने शिष्य को लिखते हैं कि :

"छिपे हुए और नगण्य दोनों में काम करना उतना ही गौरवशाली है जितना भव्य और सुन्दर केन्द्रों में। रहट के चक्र में एक छोटी-सी दाँत जैसी लकड़ी की कील जिसे बोल-चाल की भाषा में "कुत्ता" कहते हैं—उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि उस विशाल मन्त्र को चलाने वाले बैल 'कुत्ते' (मन्त्र) के टूटा लेने पर सारे का सारा मन्त्र टूट-फूट जायगा। चक्र की एक-एक तीली बड़ी गौरवशालिनी है।

देखने में ऐसी छोटी से छोटी चीजों का महत्व बच्चे भले ही न समझें तो भी इससे क्या! ईश्वर की आँखों में तो छोटे से छोटे काम का भी मूल्य होता है। यदि उसे प्रेम की प्रेरणा से किया जाता है तब ही प्रभावशाली होता है। छोटी सी छोटी ओस की बूँद भला सूर्य के सामने क्या चीज है। किन्तु बारीकी से देखने वाली आँख देख सकती है कि इस छोटी-सी बूँद में भी, उसके नन्हें से मोटे वक्षःस्थल में पूरे का पूरा सूर्यमण्डल अपनी प्रभा डालता है। इसलिए मेरी कल्याणमयी माला (शिष्या) नगण्य और अवधित क्षेत्रों में मधुर और शान्त कार्य भी नाम और यश से सर्वथाहीन ठीक उतना ही महत्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ है जितना कि वे जोर शोर से चलने वाला कोलाहल पूर्ण कार्य, जो मनुष्य-मात्र का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। विवेक का दीपक जलाकर श्रद्धा और विश्वास के साथ चलते हुए अपने आराध्यदेव के मन्दिर में प्रवेश करना चाहिये। उनके पावन वचनों का परिपालन करते हुए अपनी जीवन की गाड़ी को वैकुण्ठ धाम की ओर बढ़ाने में "अब देर क्यों? नीलकण्ठ और विश्वनाथ उस महात्मा की सन्निधि प्राप्त कर अपने को धन्य कर लेते हैं। □

□ यम-नियमादि के पालन से योग-साधनस्वरूप ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय अथवा ध्याता ध्यान ध्येय की त्रिपुटीयुक्त सविकल्प-समाधि एवं त्रिपुटी रहित स्वसंवेद्यगोचर समाधि निर्विकल्प है, विज्ञानमय ध्याता मनोमय ध्यान का विषय है ध्याता-ध्यान-ध्येय के अभाव में निवात दीपवत् चित्त समाधि कहा जाता है। इस योग-समाधि के आश्रय से अन्तःकरण के समस्त मलों का अपनयन हो जाता है। (श्री वेदान्ती स्वामी)

□ परम सन्त श्री आसाराम जी

नाम जप की महिमा

मधुरं मधुरेभ्योऽपि मंगलेभ्योऽपि मंगलम् ।
पावनं पावनेभ्योऽपि हरेर्नामैव केवलम् ॥

परमात्मा का नाम मधुर से भी मधुर है, पावन से भी पावन है और सब मंगलों से भी अधिक मंगलकारी है। हरिनाम की मधुरता, मांगलिकता, पवित्रता के विषय में हम लोग सुनते हैं, मानते हैं, जानते हैं। फिर भी हमें आंतरिक अनुभूति तब तक नहीं होती जब तक साधना के रास्ते पर तीव्रता से गति प्राप्त नहीं कर लेते।

आद्य शंकराचार्य श्वेताश्वतर उपनिषद के भाष्य में कहते हैं कि जिनके पाप निवृत्त हुए हैं, जिनके दोष जल गये हैं वे ही परमात्मा के रस की अनुभूति कर सकते हैं।

वैश्वानर रूप से जठर में उस परमात्मा की ही सत्ता से प्राण-अपान की धौंकनी से हमारे चतुर्विध अन्न-खाद्य, पेय, लेह्य और चोष्य हजम होते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग, वनस्पति और लताओं में भी पाचन-शक्ति की सत्ता उस परमात्मा की है।

जब तक विशुद्ध चैतन्य स्वरूप की अनुभूति या उसके रसास्वाद को नहीं पाता तब तक मनुष्य दुःख देने वाले जगत में ही उलझता रहता है। अपने को नहीं जानता, बड़प्पन को नहीं खोजता इसलिए बाहर की वस्तुओं से बड़ा होने के लालच में चक्कर काटता ही रहता है। अपने अंतर जगत की महत्ता को नहीं जानता इसलिए बाहरी महत्ता बनाने के लिए बुद्धि से न जाने क्या-क्या क्रूर कर्म भी करता रहता है और अंत में कहीं का नहीं रहता।

ऐसा एक किस्सा है अरब देश का।

अरब के सम्राट ने अरबों रुपये लगाकर एक स्नानागार बनवाया। उसमें चमकीले पत्थर, हीरे और रत्न जड़कर उसे अतीव सुन्दर बनाया। उस स्नानागार में ऐसी करामात की कि एक चाबी घुमाये तो फव्वारा घूमने लगे और फव्वारे में ऐसी विचित्रता थी कि बस, वह तो देखते ही बनती थी। उस स्नानागार में ऐसी मणियाँ लगी थीं कि उसमें एक आदमी जाये तो उसे अपने हजार-हजार प्रतिबिम्ब दिखें, स्नान करे तो हजारों-हजारों व्यक्ति उसके साथ स्नान कर रहे हैं ऐसा उसे उसमें भासे। कोयल, मैना, तोता और मोर आदि ऐसे ढंग से बनाये मानो सच्चे हों। फव्वारे को चाबी घुमाये तो मोर अपना टहुकार करे, कोयल अपनी किल्लोल करे, मैना अपना स्वर दे।

इतना ही नहीं उन पक्षियों के मुँह से आम का इत्र निकले, मोर के मुँह से हिना का इत्र निकले, तोते के मुँह से मोगरे का इत्र निकले। केवड़े, गुलाब, चमेली आदि के इत्रों की खुशबू के फव्वारे भी थे। वह नरपति दिन में चार बार स्नान करता था, उन्हीं फव्वारों के नीचे। अरब के सम्राट ने अपने आंतरिक सूक्ष्म सुख की इच्छा को स्नानागार में पूरी करने की कोशिश की।

जब तक जीव को अपनी आत्मा में सुख नहीं दिखता तब तक वह न जाने कितने लोगों का शोषण करके, कितना शोर करके, कितने लोगों को कोसता है? परन्तु आखिर तो सुख ही चाहता है। सुख के लिए प्राणी न जाने कितना-कितना छल-कपट करता है? उसने भी सब छल-कपट कर लिये। हीरे-जवाहरात से मंडित स्नानागार में वह सुख मानता था। उसे गर्व था कि इतना बढ़िया स्नानागार और किसी का नहीं होगा, ऐसे इत्रों से कोई नहीं नहाता होगा। अपने बड़प्पन का लोगों को पता चले, इसलिए उसने उदारता दिखाई कि प्रजाजन भी इसे देख सकते हैं। केवल दिन के चार समय स्नानागार खुला रहेगा। सम्राट नहाकर निकलेंगे उसके बाद आम जनता उसे देख सकती है।

अन्तर में उसे यह वासना थी कि लोग देखें और मैं बड़ा हूँ, सुखी हूँ, ऐसा कहें। भीतर से वाहवाही सुनने की आकांक्षा थी और बाहर से उदारता दिखाने का ढोंग था। लोग आयें और स्नानागार देखकर प्रशंसा करें। राजा ने ऐसी व्यवस्था की कि लोग क्या कहते हैं यह छुपकर सुना जा सके। उनकी बातें सुनकर वह बड़ा रस लेता था। यह रस कान को सुनाने का मजा है और अहं को पोषित करने वाला मजा है।

'तुम बड़े धनवान हो, तुम्हारा घर बढ़िया है, तुम्हारा स्नानघर बढ़िया है, तुम्हारी ऑफिस बढ़िया है, तुम्हारी गाड़ी बढ़िया है, तुम्हारे कपड़े बढ़िया हैं, तुम्हारे जेवर बढ़िया हैं...' ये बातें सुनने के लिए तुम न जाने कितना-कितना परिश्रम उठाते हो? बाद में मिलते हैं कानों के द्वारा सिर्फ कुछ शब्द और वे शब्द अहंकार का सर्जन करते हैं, आत्मा को खबर नहीं देते। अज्ञान को बढ़ाते हैं, ज्ञान के द्वार नहीं खोलते।

इस प्रकार की बातें सुनकर राजा का अहं और पुष्ट होता गया। उसे पता नहीं कि मेरे इस अहंकार को पोसने में कितने ही लोगों का रक्त इसमें शोषित किया गया होगा, कितने ही मजदूरों का शोषण किया गया होगा और कितने ही मूक प्राणियों— बैलों, हाथी, घोड़े, गधों का शोषण किया गया होगा? इस बात पर उसकी नजर ही नहीं जाती थी।

एक व्यक्ति स्नानागार नहीं बना सकता। कोई एक व्यक्ति कहे कि मेरे लड़के को मैंने एल.एल.बी. बनाया, तो यह गलत बात है। कोई कहे कि मैं चार्टर्ड अकाउन्टेन्ट बन गया हूँ तो यह भी गलत बात है। तुमने कइयों का सहयोग लिया होगा। पढ़ाने वालों का सहयोग लिया होगा, कागज, पेन-पेन्सिल, बेन्च बनाने वाले व्यक्तियों का सहयोग लिया होगा। अगर कोई व्यक्ति कह दे कि मैंने

यह काम किया है तो वह ऊपर-ऊपर से भले ही कह दे, गहराई से देखें तो कोई अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। उसके साथ न जाने क्या-क्या जुड़ा है।

सूर्य की कृपा तो चाहिए, वसुंधरा की कृपा चाहिए, जल-तत्त्व की कृपा चाहिए, तेज-तत्त्व की कृपा चाहिए, वायु की कृपा चाहिए, साथ में समाज की कृपा भी चाहिए। इतना होने के बाद अगर व्यक्ति ठीक से अपने मन-बुद्धि का उपयोग करेगा तो उन्नत होगा। यदि मन-बुद्धि का उपयोग ठीक से नहीं किया तो उन्नत नहीं होगा। मन-बुद्धि का उपयोग करके जगत में कई गुजर गये, लेकिन मन-बुद्धि का सदुपयोग करके उस मूल चैतन्य की तरफ नहीं गया तो अरब के सम्राट जैसा ही उसका हाल होता है।

अरब का सम्राट ऐसी जगह पर बैठता था कि लोग जो वाहवाही करते, उसे सुनकर फूला न समाता। गाँव-गाँव से ही क्या, देश-देशान्तर से लोग आते उसके स्नानागार को देखने के लिए। सब उसकी प्रशंसा भी बहुत करते।

एक दिन कोई सूफी फकीर अरब पहुँचे। उनकी वाणी से लोग आकर्षित होने लगे। उनकी हाजिरी मात्र से लोगों के संकल्प और विकल्प कम हो जाते। उनकी निगाहों में जो आ जाते उन्हें खुदा की, मालिक की कुछ याद आती और अहंकार-रहित होने लगते। प्राणी जितना अहंकार-रहित होने को राजी हो जाता है उतना ही उसे आत्मसुख मिलता है और जितना अहंकार को सजाने में लग जाता है उतना ही विकारी-सुख का गुलाम होता है। भक्त के सुख में और भोगी के सुख में, साधक के सुख में और संसारी के सुख में इतना ही अंतर है कि संसारी का सुख सरकने वाली चीजों पर आधारित होता है, जो उसे दुःख देती हैं। भक्त का और साधक का सुख परमात्मा पर आधारित है जो उसे परम पद का दान करता है।

कमला नेहरू आनंदमयी माँ के पास जाती थीं। वे मनौती मनाती रहती थीं कि हमारे पंडितजी जवाहरलाल नेहरू आनंदमयी माँ के चरणों में आकर बैठें और थोड़ा ध्यान करें, ऐसे दिन कब आयेंगे? कमला नेहरू गंगा में, कभी-कभी नाव में एक आसन से बैठकर, एकतान होकर माला जपती थीं। आनंदमयी माँ के पास जाकर परमात्म-प्रसाद में थोड़ा गोता मारती थीं। आनंदमयी माँ ने उनको एक सोने का कड़ा और काली रुद्राक्ष की माला दी थी। कमला उसे खूब सम्भाल कर रखती थीं। वे महात्मा गाँधी से भी आनंदमयी माँ की प्रशंसा करती थीं। महात्मा गाँधी ने जमनादास बजाज को आनंदमयी माँ के पास शान्ति पाने के लिए भेजा। जमनादास बजाज को बहुत शान्ति मिली। कमला नेहरू चाहती थीं ऐसे दिन कब आयेंगे कि हमारे पंडितजी माँ के नजदीक जायें। उनकी उपस्थिति में तो पंडितजी नहीं जा पाये लेकिन कमलाजी के संकल्प चौदह वर्ष के बाद फले और जवाहरलाल नेहरू माँ के पास पहुँच गये।

एक क्षण के लिए अबाध्य सुख मिल जाये तो उससे हजारों भोग तुच्छ हो जाते हैं। एक क्षण अगर आप निरहंकारी सुख की झलक पा लें

तो आप जब चाहें निर्द्वन्द्व हो सकते हैं और निरामय के द्वार पर पहुँच सकते हैं। जब तक इस अखंड सुख के साम्राज्य में आप नहीं पहुँचे, तब तक आपको शब्दों से पूरा सन्तोष नहीं होगा। जैसे भौतिक पदार्थों से जीव को पूर्ण सुख नहीं मिलता, ऐसे ही शब्दों से भी पूर्ण सुख या पूर्ण अनुभूति नहीं होती। शब्दों के बाद अगर आप साधन करके कुछ अनुभूति प्राप्त करते हैं, एक क्षण के लिए भी आपको अनुभूति हो गई, एक झलक भी आपको मिल गई तो आपको योग की सच्चाई का विश्वास हो जायेगा। आत्मा-परमात्मा की सच्चाई का आपको एहसास हो जायेगा। एक क्षण भी आपको वह अखण्ड सुख का कुछ एहसास हो गया फिर आप आसानी से यात्रा कर सकते हैं।

आपका मन बड़ा धोखेबाज शत्रु है और बड़ा मित्र भी है। शत्रु इसलिए है कि आपको विश्रान्ति नहीं लेने देता, धोखे में डालता रहता है। दस दिन पहले जो गलत काम किया, जो भोग भोगा और पछताया फिर भी कहता है कि फिर से थोड़ा मजा और ले लूँ। दो घण्टे पहले जो बीड़ी या सिगरेट पिया और फैंक दिया, थूक दिया, अभी सोचता है कि फिर सिगरेट जलाऊँ। हजार-हजार बार ठोकरें खाई, दुःख का एहसास किया फिर भी वहीं ले जाता है। इसलिए वह बड़ा शत्रु है। उस मन को अगर एक क्षण के लिए अखण्ड सुख की झलक मिल जाये तो वही मन आपका ऐसा मित्र होता है कि आगे चलकर प्रकृति पर पूर्ण विजय पाने की योग्यता भी आपको दे देता है। प्रकृति के सब बंधन काटकर, प्रकृति के प्रभावों को अपने पैरों तले कुचल कर आप परमात्मा स्वरूप में जाग सकते हो, इतना सहयोग भी वही मन प्रदान कर देता है।

गाय कभी गाली नहीं देती, पेड़ कभी झूठ नहीं बोलता लेकिन पेड़ पेड़ ही रहता है, गाय गाय ही रहती है, कुत्ता कुत्ता ही रहता है। मनुष्य झूठ भी बोलता है, गाली भी देता है, चोरी और मुकद्दमा भी करता है, परन्तु उसे अगर सत्संग मिल जावे, सद्गुरु का सान्निध्य मिल जावे और सत्संग के द्वारा साधन करने की युक्ति जान ले और उस साधन तथा सद्गुरु की कृपा से एक अखण्ड सुख की झलक मिल जाये तो वही मनुष्य नर से नारायण बन जाता है। वह अपना उद्धार तो करता ही है, अपने संपर्क में आने वालों का भी उद्धार करता है।

अरब के उस सम्राट ने इत्र छिड़कते हुए पक्षियों के द्वारा और लोगों की वाहवाही के द्वारा सुख मानने की कोशिश की। उस नगर में कोई फकीर आये। फकीर की धीरे-धीरे ख्याति होने लगी और लोग धीरे-धीरे उस फकीर दरवेश के नजदीक भी आने लगे। वहाँ किसी ने जिक्र किया।

"महाराज! आप इस देश में आये हैं तो यहाँ का स्नानागार देखने जैसा है।"

बाबा ने कहा: "स्नानागार जिससे देखा जाता है, वास्तव में तो वह देखने लायक है। पर वह दृष्टि आपने पर नहीं है।

स्नानागार में स्नान करने वाले भी एक दिन चल बसेंगे। स्नानागार भी एक दिन गिर जायेगा। ऐसे अनंत-अनंत संसार पैदा कर-करके जिसने लीन कर दिये फिर भी जो एकरस है, जिससे सब देखा जाता है उस अखंड को पहचानने की जरूरत है।"

बाबाजी ने यह बात पूरी की इतने में ही किसी दूसरे ने कहा: "स्वामी जी! यह सब ठीक है। आप की बात सच्ची है, लेकिन वह देखने लायक है।"

संसार से आकर्षित लोग भी तो कथा में होते हैं।

बाबाजी को कई लोगों ने आग्रह किया। बाबाजी के सत्संग का कार्यक्रम पूरा हुआ। उस गाँव से रवाना होने वाले थे। बोले— ज्यादा आग्रह करते हो तो चलो।"

सम्राट ने अपनी प्रशंसा सुन-सुनकर तो सुख लिया था लेकिन वह चाहता था कि मेरी प्रशंसा भी चिरंजीवी हो जाये। इसलिए वहाँ एक किताब रख दी ताकि वहाँ आने वाले आने-जाने प्रसिद्ध व्यक्ति इसके बारे में कुछ लिख जायें।

मनुष्य प्रशंसा का इतना भूखा हो जाता है कि वह चाहता है कि कोई हमारे लिए कुछ बढ़िया कहे और वह किताबों में लिखा रहे। हम मर जायें उसके बाद भी लोग गाते रहें, पढ़ते रहें। जब तक लोकेश्वर से प्रीति नहीं और लोकेश्वर की मधुरता का अनुभव नहीं तब तक यह लोकैषणा बनी रहती है।

ऐसी ही वित्तैषणा होती है। 'इतना और...थोड़ा और...थोड़ा और धन हो जाय।'

मैंने सुनी है एक कथा :

सिकंदर पहुँचा गोरखनाथ के पास :

"बाबाजी! जब मैं चला था यूनान से तो डायोजीनीस महाराज ने कहा था कि गंगाजल ले आना और भारत का कोई संत साथ में ले आना। गंगाजल तो मिल जायेगा लेकिन संत तो आप हैं, चलिए।"

गोरखनाथ बोले : "मैं नहीं जाता हूँ।"

वह बोला : "कुछ चाहिए तो ले लो महाराज।"

गोरखनाथ जी ने उसका अहंकार उतारने के लिए अपनी विद्या के बल से उनके पास जो खोपड़ी का खप्पड़ था उसे दिखाकर बोले : "अच्छा मुझे इसमें भिक्षा भर दो।"

वह बोला : "यह इतना-सा, जरा-सा बर्तन! महाराज! मैं सिकंदर हूँ सिकंदर।"

गोरखनाथ बोले : "तू इतना तो भर दे।"

सिकंदर बोला : "अभी इसको आटा-दाल से क्या भरना? सिकंदर के द्वारा यह इतना-सा भिक्षा पात्र! चलो, मोतियों से भर देता हूँ।"

मोतियों की दो-चार मुट्ठी डाली लेकिन वह खोपड़ी भरी नहीं। और चार-पाँच मुट्ठी डाली फिर भी भरी नहीं। तिजोरी खाली होने लगी, दूसरी तिजोरी के द्वार खोले, तीसरी के द्वार खोले। वह देखता जा रहा है। सिकंदर चकित हो गया और बोला : महाराज! आखिर यह सब क्या है?"

महाराज बोले : "होगी तेरे जैसे किसी अभागे की खोपड़ी जो इतना-इतना मिलने पर भी नहीं भरी। पक्षियों को देख, आज खाते और मजे से किल्लोल करते हैं। कल की परवाह नहीं फिर भी उनकी कल बढ़िया जाती है। मनुष्य के पास सामान सौ दिन का है, सौ महीने का है, सौ साल का है जबकि पता कल का भी नहीं है। फिर भी 'खपे, खपे, खपे...' मैं अपने को खपा देता है। जितनी ये भौतिक चीजें ज्यादा उतनी उपाधि ज्यादा।"

न करे नारायण! अगर 25 हजार वाले की आमदनी 10 हजार रुपये हो जाये तब वह अपने को कितना दरिद्र महसूस करेगा! एक बार जिन जरूरी आवश्यकताएँ बढ़ाने की आदत पड़ जाती है फिर आदमी उन आदतों के चक्र में चक्कर काटता ही रहता है। अपने से जिसके पास कम धन है, कम साधन हैं उसको छोटा मानता है। अपने से जिसके पास ज्यादा साधन हैं उसको बड़ा मानता है। जिसके पास अपनी बराबरी के

साधन हैं उसको बराबरी का मानता है और अपने से कम साधन वाला, बराबरी के साधन वाला और बड़े साधन वाला इन तीनों में जो एक का एक आत्मा है उधर की नजर चुरा देता है। तुच्छ चीजों के कारण ही बड़ा-छोटा और बराबरी का मानता है।

बाबाजी उस विश्वविख्यात स्नानागार के दीदार करके आये। किताब खोल दिया गया। बाबाजी सुप्रसिद्ध संत थे। कर्मचारी ने कहा :

"महाराज ! सम्राट ने यह एक सुन्दर चीज बनवायी है। यह देशवासियों को तो प्रसन्न करती ही है, परदेश से भी लोग इसे देखने आते हैं। महाराज ! आपको यह कैसा लगा यह लिख दीजिए।"

महाराज तो ब्रह्मज्ञानी संत थे, एक से जुड़े थे, अर्थात् सत्य-स्वरूप परमात्मा से अभिन्न हुए थे। उन्होंने लिखा :

"स्नानागार की चमकदमक बिल्कुल अद्वितीय है, इसमें सुन्दर-सुन्दर चमकीले पत्थर लगाये गये हैं। उन पत्थरों को लगाने के पीछे कितने अबोध जीवों का खून चूसा है, वह दिख रहा है। इन चमकीले हीरे-जवाहरात के पीछे कई मासूम बच्चों का और अनाथ जीवों का शोषण दिखाई दे रहा है। इन छिड़काते हुए पक्षियों के चित्र, पक्षियों की किल्लोल एवं सुगंध के पीछे मुर्देपन की दुर्गन्ध की खबरें आ रही हैं। करोड़ों-करोड़ों रुपये खर्च करके जो स्नानागार बनवाया गया है वह प्रजा के लिए दर्शनीय चीज बनायी गयी है इस बात में भी दम मालूम पड़ता है। 'मैंने बढ़िया बनाया' यह अहंकार पोसने की युक्ति ही दिखाई दे रही है। मुझे तो ऐसा लगता है कि दिन में चार बार जो लोग इत्र से स्नान करते हैं वे जब मर जायेंगे तब कब्र में से उनके मुर्दे की ऐसी बदबू आयेगी कि लोगों को नाक पर रूमाल रखना ही पड़ेगा।

चाहे कोई कितना ही इत्र से नहाता रहे और कितना ही अंगों को इत्र में डुबाये रखे लेकिन उस चैतन्य परमात्मा का सम्बन्ध जब टूट जायेगा तो उनके शरीरों से वही बदबू आयेगी जो मुर्दों में से आती है। बाहर के इत्र इस जीव को सुगंधित नहीं करते। जीव के लिए सच्चा इत्र तो ईश्वर का ध्यान है परमात्मा का ध्यान है। इससे उसकी सच्ची सुगंध फैलेगी।"

शबरी ने कौन-सा इत्र लगाया था ? मीरा कहाँ से इत्र लगाती थी ? रविदास चमार के पास कौन-सा इत्र था ? सदना कसाई के पास कौन-सा इत्र था ? शुकदेवजी महाराज कहाँ इत्र के फव्वारे से नहाए थे ? एकनाथजी महाराज कौन-से स्नानागार में नहाए थे ? लेकिन उनकी आत्मिक सुगन्ध का कैसा विशुद्ध प्रभाव ! लोगों का शोषण कतई नहीं हुआ। उनके पास अपना और लोगों का कल्याण करने वाली वह आत्मिक सुगन्ध थी, आत्मिक इत्र था।

□ श्री स्वामी विष्णुतीर्थ

आत्म-संयम और आत्मबल

भगवान ने जन्म देकर हमें दो मार्गों के बीच खड़ाकर दिया। जिधर चाहो, उधर जाओ। ये दो मार्ग हैं—"धर्म और अधर्म।" यदि हम धर्म-मार्ग की ओर जाते हैं तो हमें मनोनिग्रह और आत्म-संयम की सीढ़ियों से ऊपर चढ़ना पड़ेगा, फलस्वरूप धर्म में हमारी आस्था मजबूत बनेगी और आत्मतृप्ति का आनन्द लेते हुए हम उस ओर प्रगति कर सकेंगे। यदि अधर्म मार्ग की ओर हम जाते हैं तो अधर्ममें हमारी आस्था मजबूत होगी। यह मार्ग नीचे जाने का मार्ग है, विलास का मार्ग है। बिना किसी सहारे के इस मार्ग पर जल्दी-जल्दी हम आगे बढ़ते हैं और सुख की झांकी कराने वाले दुःख के सागर में डूब जाते हैं। किधर जाना और क्या करना? यह जिम्मेदारी हमारी और फल देने की जिम्मेदारी भगवान् की है।

मनुष्य स्वतन्त्र है, वह जैसा चाहे, करे। बबूल के बीज बोने हैं या आम के, कांटे चाहिए या सुन्दर स्वादिष्ट फल—यह निर्णय हमें ही करना है। जैसा बीज होगा, वैसा फल मिलेगा। कर्ता मनुष्य और फलदाता भगवान्! इसे समझकर यदि हम सावधान हो गये तो बेड़ा पार है। यदि हम में आत्म-संयम है तो हम चाहे जिस मार्ग पर जायें, हमारा संयम हमारा मुँह सही दिशा में ही रखेगा और आत्मबल के सहारे सभी रुकावटों को चीरते हुए हम आगे बढ़ सकेंगे। जीवन की सफलता के लिए संयम ही एकमात्र सहारा होता है।

उपदेश

आत्म-संयम—गीता में भगवान कहते हैं कि अपना आत्मा ही अपना बन्धु होता है और वही शत्रु भी बन जाता है। जिन्होंने आत्म-संयम द्वारा कठिन तपस्या करके अपने आपको जीत लिया है, उनका आत्मा उनका मित्र है और जिनमें आत्म-संयम का बल नहीं होता, उनका आत्मा उनका शत्रु बन जाता है। यहाँ आत्मा का अर्थ है—"इन्द्रिय मनोयुक्त आत्मा।"

स्वयं जिम्मेदार—मनुष्य संयम खोकर स्वयं अपना शत्रु बनता है। भली-बुरी आदतें अच्छी-बुरी वासनायें और काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष से युक्त मनोभाव उसके जीवन का निर्माण करते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को सुधारने और बिगाड़ने के लिये स्वयं जिम्मेदार होता है।

स्वतन्त्रता प्रिय—मनुष्य स्वभाव से स्वतन्त्रता प्रिय है, लेकिन यदि वह दूसरों की स्वतन्त्रता का सम्मान नहीं करता तो संयम-हीन और स्वच्छन्द कहलाता है। उसे गँवार और असभ्य की उपाधि दी जाती है।

संयम की शृङ्खला—घर में, सड़क पर, दफ्तर में, ट्रेन में, बस में, मेले में या उत्सवों

पर,—सर्वत्र आत्म-संयम की कठोर परीक्षा देनी पड़ती है। हमारी समस्त जीवनचर्या ही आत्म-संयम की एक शृङ्खला है।

संयम रहित साधना—संयम की जितनी आवश्यकता सार्वजनिक क्षेत्र में है, उससे कहीं अधिक आध्यात्मिक क्षेत्र में उसकी आवश्यकता है। संयम रहित साधना हो ही नहीं सकती। लेकिन संयम का शिकंजा ऐसा दृढ़ नहीं कसना चाहिये कि उसमें से अनुदारता, संकीर्णता, अस्पृश्यता या घमण्ड की दुर्गन्ध आने लगे।

अमर होने का साधन—इन्द्रिय, मन और बुद्धि को संयम में रखने वाला मुनि मोक्ष-परायण होता है। इच्छा, भय एवं क्रोध से वह मुक्त होता है और जीवन-मुक्ति की अवस्था में वह विचरता है। जो संयम से नहीं रहते, वे मृत्यु का आवाहन करते हैं। आत्म-संयम ही अमर होने का साधन है। प्रभु हमारे 'मनसूबे' मिटाने की कृपा करके हमें संयम से रहने का पाठ सिखाते हैं।

आत्मबल—मनोनिग्रह से आत्म-संयम और आत्म-संयम से आत्मबल की वृद्धि होती है। बल विज्ञान से भी ऊँचा है। सौ वैज्ञानिकों को एक बलवान कंपा सकता है। देखना, सुनना, समझना, अन्वेषण करना,—सब बल के अधीन हैं। बल का अर्थ है—ताकत, लेकिन व्यापक अर्थ में 'बल' के स्थान पर 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कार्यकुशलता—आत्मबल और मनोबल पर्यायवाची शब्द हैं। तितिक्षा, सहिष्णुता, निर्भीकता और धैर्य आत्मबल के साथी हैं। कार्य-क्षमता और कार्य-कुशलता के लिए इन साथियों सहित आत्मबल की जरूरत पड़ती है।

परीक्षा—आत्मबल के लिए शरीर-बल जरूरी नहीं होता। आत्मबली किसी भी पहलवान से अधिक साहसी होता है। संकटापन्न स्थिति में, भय उपस्थित होने पर आत्म-बल की परीक्षा होती है। संकटों में धैर्यपूर्वक दुःखों को सहन करने से आत्मबल बढ़ता है।

शरीर-बल—जैसे व्यायाम से शरीर में बल आता है, वैसे ही आत्म-संयम से आत्म-बल का विकास होकर भी शरीर में बल आता है। आत्मबल के सहारे मनुष्य इतना बलवान बनता है कि कठिन से कठिन कार्य को भी वह सरलता से पूरा कर सकेगा।

रोगों की चिकित्सा—आत्मबल से सब कार्य सिद्ध होते हैं, यहाँ तक कि शारीरिक रोगों की चिकित्सा भी की जा सकती है। उच्च आत्मबल वाला मनुष्य रोगों के कीटाणुओं को बिना औषधि प्रयोग के नष्ट कर देता है। वह उन रोगों से अपनी और दूसरों की रक्षा करता है।

बल तो क्रोध में भी है—बल तो क्रोधी मनुष्य के क्रोध में भी होता है। उससे दूषित संस्कारों की रश्मियाँ निकलकर मण्डल बनाती हैं और अपने सम्पर्क में आने वालों पर अव्यवस्था, भय आदि का बुरा प्रभाव डालकर आत्मशक्ति का ह्रास करती है।

प्रभाव पड़ता है—आत्मबली की देह से भी आत्मशक्ति की सूक्ष्म रश्मियाँ निरन्तर फैलती रहती हैं और उसके मण्डल में आने वालों पर प्रभाव पड़ता है। बड़े-बड़े महापुरुषों ने आत्मबल के ही सहारे अनहोनी को भी होनी कर दिखाया है और दुनिया को अपने संकेतों पर नचाया है।

गुणों की चर्चा—यदि आप अपने जीवन के संकटों को घटाना तथा आत्म-संयम और आत्मबल को बढ़ाना चाहते हैं, तो जिनके दोष उनके सामने कहने की आदत डालिये।

पीठ पीछे तो उसके गुणों की ही चर्चा करनी चाहिए।

खतरनाक कल्पना—'सत्कर्म किया तो उसी में प्रार्थना का समावेश हो जाता है',—यह कल्पना खतरनाक है। श्रद्धापूर्वक, हृदय से ईश्वर की नियमित प्रार्थना की जाय तो हमारे सभी कर्म दोष रहित बनेंगे और हमारी कार्य-क्षमता भी बढ़ेगी। सफल जीवन के लिये भोजन की ही तरह प्रार्थना भी आवश्यक होती है। प्रार्थना से आत्मबल में असीम वृद्धि होती है।

आत्मबल का चमत्कार—प्रायः देखा जाता है कि बहुतों के शरीर असाध्य रोगों से क्षीण होने पर भी उनकी इन्द्रियाँ, मन, प्राण और बुद्धि मरणपर्यन्त ठीक कार्य करते हैं। लोग कहते हैं कि वह तो "दैवी शक्ति" के सहारे जी रहा है। महात्मागांधी के बारे में आखिर डा० अन्सारी को आश्चर्य के साथ कहना पड़ा था कि महात्मा जी ने अपने ब्लड प्रेशर को अनेक बार, जब कि डाक्टर लोग हार मान चुके थे, न जाने किस शक्ति से औषध के बिना ही ठीक कर दिखाया। यही तो होता है आत्मबल का चमत्कार !

सुखों का त्याग—प्रारब्ध का दुःख परवश भोगना पड़ता है, लेकिन सुख भोगना या न भोगना हमारी मर्जी पर है। जैसे पेट में दुःख है तो वह कष्ट हमें भुगतना ही पड़ेगा, लेकिन यदि धन-संपत्ति उपहार में मिल रही है तो उसे हम ले या न लें अथवा लेकर भी उसे परोपकार में लगा दें,—यह हमारी मर्जी पर है। केवल आत्म-संयमी ही सुखों का त्याग करने में समर्थ होता है।

ब्राह्मी स्थिति—एक विचार के अन्त और दूसरे विचार के आरम्भ में जो अवकाश रहता है, वही 'ब्राह्मी स्थिति' है। ध्यानपूर्वक संयम करके इस स्थिति को बढ़ाना कर्त्तव्य है। संयमी जीवन ही व्यवहार-कुशल जीवन होता है। जो व्यवहार-कुशल नहीं, वह परमार्थ-कुशल हो ही नहीं सकता। लोकहित में रत रहना ही परमात्मा की उपासना है। इससे संयम बढ़ता है, विचारों में स्थिरता आती और आत्मबल के विकास द्वारा 'ब्राह्मी स्थिति' में वृद्धि की जाती है।

"जितने मत हैं उतने ही मार्ग हैं। अपने मत पर निष्ठा रखनी चाहिए, पर दूसरों के मत की निन्दा नहीं करनी चाहिए।"

"सिद्धियाँ परमेश्वर-प्राप्ति के मार्ग में बड़ी विघ्न हैं।"

"विवेक और वैराग्य के बिना शास्त्रज्ञान व्यर्थ है।"

—श्री रामकृष्ण

पत्रं पुष्पं फलं तोयम्

चर्पट पंजरिका से

गेयं गीता नाम सहस्रं, ध्येयं श्रीपति रूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जन निकटे चित्तं, देयं दीन जनाय च वित्तम् ॥१२॥

गीता और विष्णुसहस्त्र नाम को गाना चाहिये, विष्णु का सदा ध्यान करना चाहिये, सज्जन के पास चित्त को ले जाना चाहिये और दीनजनों को दान देना चाहिये। गोविन्द यानी प्रभु का भजन कर।

भगवद्गीता किंचिदधीता, गंगाजल लव कणिका पीता ।
येना कारि मुरारे अर्चा, तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥१३॥

जिसने भगवद्गीता का थोड़ा-सा भी पाठ किया, जिसने थोड़े से भी गंगा जल का पान किया और जिसने मुरारि प्रभु की पूजा की, क्या यमराज उसकी चर्चा करता है ? नहीं करता। इसलिये गोविन्द यानी प्रभु का भजन कर।

कोऽहंकस्त्वं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं सर्वं त्यक्त्वा स्वप्न विचारम् ॥१४॥

मैं कौन हूँ, तू कौन है, कहाँ से आया है, मेरी माता कौन है, मेरा पिता कौन है, इसका विचार करके स्वप्न के समान जानकर सबका त्याग कर, इस नाम रूपात्मक जगत् को असार मान ले, गोविन्द यानी प्रभु का भजन कर।

का तव कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्यत्वं वा कुत आयातस्तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः ॥१५॥

तेरी स्त्री कौन है, तेरा पुत्र कौन है, यह संसार अत्यन्त विचित्र है, तू किसका है और कहाँ से आया है। हे भाई ! तू मन में इस तत्त्व का विचार कर। गोविन्द यानी प्रभु का भजन कर।

सुरतटनी तरु मूल निवासः शय्या भूतलमजिनंवासः ।
सर्वपरिग्रह भोगः त्यागः कस्यसुखं न करोति विरागः ॥१६॥

गंगा किनारे वृक्ष की मूल में निवास करना, भूमि का बिस्तर, मृगचर्म वस्त्र, सब परिग्रह और भोग का त्याग, ऐसा वैराग्य किसको सुख नहीं देता यानी सबको सुख देता है इसलिये गोविन्द यानी प्रभु का भजन कर।

□ डा० श्री भीष्मदत्त जी शर्मा

योगदर्शन में अष्टाङ्गयोग

महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत योगदर्शन साधकों, भक्तों और उपासकों के लिए परम उपयोगी शास्त्र है। इसमें अन्य दर्शनों की भाँति खण्डन-मण्डन न करके सरलतापूर्वक संयमित जीवन पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। इसीलिए आज के युग में न केवल आध्यात्मिक अथवा धार्मिक क्षेत्र में योगदर्शन के महत्त्व को स्वीकार किया गया है, वरन् शिक्षा के क्षेत्र में भी इसका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

शिक्षा का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। जीवन का आधार शिक्षा ही है। किसी व्यक्ति के जीवन में जैसी शिक्षा होती है, वैसा ही उसके जीवन का निर्माण होता है। धार्मिक शिक्षा से धार्मिक जीवन का और भौतिक शिक्षा से भौतिक जीवन का निर्माण होता है। अतः सदैव श्रेष्ठ शिक्षा को जीवन में उत्तम माना गया है।

भारतवर्ष धर्म, संस्कृति, अध्यात्म और शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन काल से अग्रगण्य रहा है। यहाँ की आध्यात्मिक शिक्षा ने विश्व को समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व का दर्शन प्रदान कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का प्रचार-प्रसार किया है। यह विडम्बना ही है कि आज भारत में धार्मिक आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा का प्रायः लोप होता जा रहा है। महर्षि मनु, वाल्मीकि व्यास, शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, तुलसी और सूरदास आदि प्राचीन विद्वानों एवं संत-महात्माओं से लेकर स्वामी विवेकानन्द, टैगोर, अरविन्द और गांधी जी आदि सभी विचारकों ने शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहा कि इसके द्वारा बालक का न केवल शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक विकास होता है, वरन् आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक विकास भी होता है। वस्तुतः ऐसा होने पर ही सर्वाङ्गीण विकास की प्रक्रिया पूर्ण होती है। अतः आज शिक्षा-प्रणाली को इस प्रकार तैयार करने की आवश्यकता है, जिससे विद्यार्थियों का वास्तविक समग्र विकास हो सके। इस दृष्टि से शिक्षा के क्षेत्र में योग समाहितचित्तता की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

यद्यपि समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद नाम से चार पदों में विभक्त पतञ्जलि योगदर्शन में समग्र जीवन पद्धति का चिन्तन हुआ है तथापि साधनपाद में प्रतिपादित अष्टाङ्गयोग में ही इस शास्त्र का सम्पूर्ण सार-सर्वस्व निहित है। समस्त योगसाधना इसी अष्टाङ्गयोग पर आधारित है। निर्मल विवेक-ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए योग-सम्बन्धी आठ अङ्गों के अनुष्ठान पर इस शास्त्र में बल देना इसी ओर संकेत करता है कि मानव-जीवन में इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण के लिए यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग की साधना परम उपादेय है। आत्मसाक्षात्कार सम्पूर्ण योगसाधना का चरम फल है। उचित शिक्षा

द्वारा इसी आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त करके मानव कृतकृत्य हो जाता है। आज की शिक्षा प्रणाली में इसकी उपादेयता को स्वीकार करते हुए योग को शिक्षा के विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित करने की आवश्यकता है, किन्तु योगाभ्यास में केवल विभिन्न प्रकार के आसनों का अभ्यास करना ही आज प्रचलित होने के कारण इसका पूर्ण रहस्य अज्ञात ही बना रहता है और योग केवल ऐसा शारीरिक व्यायाममात्र बनकर रह गया है, जिसका उद्देश्य या तो शरीर को स्वस्थ रखना अथवा अनेक प्रकार के रोगों से मुक्ति प्राप्त करना है, किंतु वस्तुस्थिति यह नहीं है। यह तो योग का गौण उद्देश्य है। योग का मुख्य उद्देश्य है—ईश्वर-प्राप्ति। योगाभ्यास करनेसे यदि किसी को भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो उसका प्रयास व्यर्थ है। विद्यार्थी तथा अध्यापक के लिए योग की उपादेयता इतनी अधिक है कि इसके अभाव में आज की शिक्षा में नैतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास हो रहा है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में योग के समावेश को परम आवश्यक मानते हुए उसके आठों अङ्गों का यहाँ संक्षेप में शैक्षिक महत्त्वाङ्कन किया जा रहा है—

यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। इन पाँचों यमों की आज की शिक्षा में महती आवश्यकता है। आज छात्रों के जीवन में जो अव्यवस्था, कुण्ठा, हिंसा, अनुशासनहीनता, उपेक्षा, निराशा, असंयम, अशान्ति और छल-कपट आदि दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं, उसके मूल में योग के इस प्रथम अङ्ग 'यम' को छात्रों द्वारा अपने आचरण में न लाना ही है। आज की शिक्षा में छात्रों को संयमी बनाने का प्रयास न होने से ही युवकों में धर्म, संस्कृति और अध्यात्म से हटने की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है। आज शिक्षा में प्रत्येक स्तर पर पाठ्यक्रमों में इन पाँचों यमों को छात्रों तथा अध्यापकों के जीवन में धारण कराने का प्रावधान होना चाहिये। समुचित दिशा में व्यवहार-परिवर्तन करने का शिक्षा का कार्य तभी पूर्ण होगा, जब छात्र और अध्यापक दोनों ही अहिंसक, सत्यवादी, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करने वाले तथा अपरिग्रही होंगे।

नियम

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (शरणागति)—ये पाँच नियम हैं। शौचका अर्थ है—बाह्य और आभ्यन्तर-शुद्धि। जल-मिट्टी आदि से बाह्य शुद्धि और जप-तप तथा पवित्र विचारों से आन्तरिक शुद्धि होती है। आजकल लोग मल-त्याग के पश्चात् साबुन से हाथ धोकर शुद्धि मान लेते हैं, किंतु यह उचित नहीं है। बिना जल-मिट्टी के शुद्धि नहीं होती। आज शौचाचार की व्यवस्था दिन-प्रति-दिन शिथिल होती जा रही है। छात्रों का आहार-विहार और विचार दूषित होना आज की शिक्षा का अभिशाप बन गया है। अतः शौच-पालन की ओर छात्रों को प्रेरित करने की बड़ी आवश्यकता है। भारतीय दर्शन मानव-जीवन में संतोष को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता है, किंतु पाश्चात्य दर्शन ठीक इसके विपरीत असंतोष को उन्नति का कारण मानता है। अतः आज की शिक्षा भी छात्रों और अध्यापकों तथा समाज में असंतोष को बढ़ा रही है। छात्रों में व्याप्त असंतोष की अभिव्यक्ति समय-समय पर अनेक प्रकार के आन्दोलन के रूप में होती रहती है। ऐसी परिस्थिति में छात्रों द्वारा संतोष-नियम का पालन करने से शिक्षा-जगत् में व्याप्त अशान्ति के शमन में सहायता मिल सकती है। □

☐ स्वामी वेंकटेश भट्ट

मन्दाग्नि दूर करने की यौगिक प्रक्रिया

मन्दाग्नी एवं कब्जियत से पेट का आरोग्य नष्ट होता है। इसलिए उसे दूर करने के लिए निम्नलिखित आसन है :

(1) उत्तानपादासन—चित्त लेटकर दोनों पैरों को सीधा करके मिलाकर पाँव की उँगली को तानकर एक साथ दोनों पैरों को 10-12 इंच तक धीरे-धीरे ऊँचा उठाकर फिर जमीन पर धीरे से रख देना।

सामान्य कब्जियत को दूर करने के लिए निद्रा से प्रातःकाल उठते ही आधा सेर या तीन पाव अथवा जितना पी सके उतना पानी पीकर एक दो मिनट के उपरान्त इस उत्तानपादासन का अभ्यास चार-पाँच बार करके टट्टी (पाखाना) जावे तो मल त्याग करने के लिए ज्यादा परिश्रम न करना पड़ेगा।

यह ध्यान में रखने की बात है कि मल त्याग करने के लिए जोर लगाना हानिप्रद है। ज्यादा जोर लगाने से मलाशय की नली बाहर निकल आती है और वह बड़ी कठिनाई से अन्दर जाती है। इसलिए मल त्याग करते समय शक्ति प्रयोग करना खतरे से खाली नहीं है। इसलिए उपरोक्त रीति से पानी पीकर उत्तानपादासन करने से मल त्याग में कठिनाई नहीं होगी। जब तक इस आसन का अभ्यास उपरोक्त रीति से प्रतिदिन करते रहें। यदि विशेष कब्जियत हो याने बहुत दिनों से मल साफ नहीं होता है, ऐसी अवस्था में प्रातःकाल शौच जाने के पहले भर पेट पानी पी कर एक दो मिनट के अनन्तर उक्त आसन को करके शौचालय जाने के उपरान्त मल द्वार को धोते समय अपने बायें हाथ की बीच के उँगली को मलद्वार के अन्दर पूर्ण प्रवेश करके अंदर से रुके हुए मल को खींचकर बाहर करने की चेष्टा करें। इस प्रकार उँगली धो-धो कर दो तीन तीन बार अन्दर प्रवेश करते हुए बिल्कुल उस द्वार को शुद्ध कर दें। यदि उँगली को गुदा द्वार में अन्दर जाते समय कठिनाई हो तो उस पर तेल या घी की चिकनाई लगाकर भीतर प्रवेश करने की चेष्टा करनी चाहिए। इस क्रिया को करने में घृणा नहीं करनी चाहिए। इसके अभ्यास को करने वाले स्वतः इसके लाभ का अनुभव करेंगे।

इस प्रकार मलाशय के भीतर की जब शुद्धि होगी तो जठराग्नि तेज होगा जिससे कब्जियत तथा मंदाग्नि की शिकायत दूर होगी। जठराग्नि कमजोर होने से कब्जियत तथा मलबद्धता होती है, जो सब रोगों का जड़ है। इसलिए उपरोक्त रीति से मल द्वार को साफ करना रोगी, निरोगी, योगी सबों के लिए लाभदायक है। जानवर भी मल विसर्जन करने के पश्चात् अपने गुदा द्वार को आकुंचन प्रसारण करके भीतर रुके हुए मल को बाहर निकाल देते हैं। उनको यह शिक्षा प्राकृतिक रूप से सिद्ध है। जिसके कारण पशुओं को मल बद्धता, मंदाग्नि कब्जियत इत्यादि, होने नहीं पाती इसलिए वे निरोग रहते हैं। पर

जाति को प्रत्येक विषय में शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है।

जो पशु मनुष्य सम्पर्क में पड़ गये हैं, उन्हें कभी-कभी उक्त शिकायत हो जाया करती है। तब वे इसकी औषधि स्वतः खोज लेते हैं। मनुष्य जैसे डाक्टर, वैद्यों के पास रोगों का इलाज कराता है। वैसे प्रकृति उन पशुओं को स्वावलम्बी इलाज की प्रेरणा देती है। उपरोक्त रीति से गुदा द्वार को आकुञ्चन (सिकुड़ाना) प्रसारण (फैलाना) करने वाली क्रिया को अश्विनि मुद्रा कहते हैं। इस अश्विनि मुद्रा का अभ्यास मनुष्य वर्ग प्रतिदिन पाँच मिनट करता रहे तो स्वप्न दोष, प्रमेह इत्यादि सब दूर हो जाता है और गुदा द्वार में ऊँगली प्रवेश करके मल साफ करने को 'गणेश क्रिया' तथा "मूल शोधन क्रिया" ऐसे दो नाम हैं।

केवल नाम दो हैं पर क्रिया एक ही है। मूल शोधन क्रिया को किये बिना अश्विनी मुद्रा का अभ्यास करना लाभदायक नहीं है। इसे याद रखें।

प्राणायाम के अभ्यासी को उक्त क्रिया को जब भी मल विसर्जन करें, तब जरूर करना चाहिए। क्योंकि प्राणायाम अभ्यास से जब गुदा गरम होगी तो वहाँ रुके हुए मल से दुर्गन्ध वायु उत्पन्न होकर प्राणायाम के द्वारा मस्तिष्क में चढ़ जाती है। इससे सर दर्द एवं माथे के अन्य रोगों तथा मल बद्धता और कब्जियत का शिकार होना पड़ता है। इस क्रिया के अभ्यास से सब प्रकार के बवासीर एवं भगन्दर रोग पास में आते नहीं हैं। गुदा सम्बन्धी रोगों से बचना चाहें तो उन्हें इस क्रिया का अभ्यास प्रतिदिन करने की आवश्यकता है।

जो व्यक्ति पुरानी मल बद्धता तथा अजीर्ण रोगों को दूर करना चाहें तो पूर्वोक्त रीति से पानी पीकर उक्त आसन करके शौच जाकर मल विसर्जन के उपरान्त उक्त क्रिया द्वारा मल द्वार की शुद्धिकर हाथ पैर धोकर पिये हुए पानी का वमन करें। वमन करने के लिए दाहिने हाथ के बीच की तीन उँगलियों से जीभ की जड़ को धीरे-धीरे घिसें तो वह पानी बाहर आ जायगा। यदि पानी वमन करते समय न निकले तो पुनः भर पेट पानी पीकर वमन करने की चेष्टा करने से पानी बाहर आ जाएगा। उस समय पेट से कड़वा-कड़वा खट्टा-खट्टा तीता-तीता हरा-पीला पानी कफ के साथ कुपित पित्त आदि सब धीरे-धीरे बाहर आते हैं। तब पेट का भारीपन दूर हो जाएगा। अनन्तर हाथ मुँह धोकर पेट सम्बन्धी आसनों का अभ्यास करें। इस प्रकार से जब तक वमन के समय खट्टा पानी आना बन्द न हो तब तक करें अनन्तर वमन करना बन्द कर दें।

यदि पिया हुआ पानी पूर्ण रूपेण बाहर न आवे तो घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यदि मुँह से नहीं निकलेगा तो पेशाब और पसीना के द्वारा बाहर निकलेगा। इससे पेशाब खुलकर दो चार बार हो जाए तो मूत्र द्वारा भी शुद्ध हो जाता है इससे लाभ के सिवाय हानि नहीं है।

साधना-काल के मेरे अनुभव

□ स्वामी मुक्तानन्द

परमात्मा को प्राप्त करने के बहुत-से मार्ग हैं सामान्यतः योग-मार्ग कहा जाता है। लेकिन इन सबके ऊपर एक ऐसा योग भी है जो गुरु कृपा पर आश्रित है। शास्त्रों में इसे 'सिद्ध योग' कहा गया है। इसमें आसन, प्राणायाम, यम-नियम, पठन-पाठन, यज्ञ-याग ऐसे किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। इसमें केवल सिद्ध गुरु के मिलने की आवश्यकता रहती है।

इस योग की विशिष्टता यह है कि दूसरे सब योग प्रयास साध्य हैं, जबकि यह योग स्वयं-सिद्ध है अर्थात् स्वतः होता है। इसलिए इसको महायोग भी कहा गया है। यह योग करने से नहीं होता, बल्कि गुरु-कृपा से अपने आप होने लगता है। गुरु-कृपा होने पर साधक को दूसरे सभी योग एक साथ प्राप्त हो जाते हैं।

इस योग की प्रक्रिया ऐसी है कि बहुत लोगों को विश्वास करने में कठिनाई होती है, इसी कारण साधक तथा सिद्ध लोग इसका विज्ञापन नहीं करते।

बहुत मेरे भक्तों ने मुझसे मेरी साधना के बारे में जानना चाहा है, क्योंकि आप लोग इस विषय में बहुत उत्सुक हैं इसलिए मैं अपनी साधना के बारे कुछ कहूँगा।

शक्तिपात-दीक्षा और यौगिक प्रक्रियाएँ

एक दिन नित्यानन्द बाबा ने मुझे एक फल देकर कहा कि तू येवला जा और वहीं जाकर साधना कर। फल लेकर मैं येवला चला गया। मेरी साधना कुटीर बस्ती के बाहर सूकी में एक सुन्दर स्थल पर दो आम्र-वृक्षों के बीच में बनी हुई थी। मैं वहाँ गया और बाबा का दिया हुआ फल खाकर ध्यान के लिए बैठ गया। बैठते ही मुझे कुछ बेचैनी और अस्वस्थता प्रतीत होने लगी। कुछ ही क्षणों में मुझे विचित्र अनुभव होने लगे। मेरी समझ में नहीं आया कि यह सब क्या घटित हो रहा है। मेरा मन क्षुब्ध हो उठा, चित्त में भ्रम-सा होने लगा। दिन ढलने के साथ-साथ मेरी भ्रम की अवस्था भी बढ़ती गई। यों तो मैं निर्भीक व्यक्ति हूँ, पर उस दिन भय होने लगा। मुझे लगा सम्भवतः नित्यानन्द बाबा, मुझ पर नाराज हैं। मैंने सोचा कि या तो मुझसे कोई अपराध हो गया है अथवा मैंने अनजाने ही उनकी अवज्ञा कर दी है, यही कारण है कि उन्होंने मुझे येवला भेज दिया है। इस प्रकार के अनेक विचार मेरे मन में आने लगे। मुझे क्या हो रहा है, मैं कुछ निर्णय नहीं कर सका। हताश होकर मैंने समझ लिया कि कहीं न कहीं कोई भयंकर भूल हो गई है, कुछ न कुछ अवश्य बिगड़ा है और अब हमारे दिन खराब आ गये हैं। यही सोचकर मैंने अपने सेवक बाबू को उसके घर भेज दिया।

रात के नौ बज गए थे। जब मैं पुनः ध्यान के लिए बैठा तो बाहर बहुत हो-हल्ला सुनाई दिया मेरे सारे बदन में दर्द होने लगा। मुझे अपने आप पद्मासन लग गया। जिह्वा गले से नीचे उतरने लगी। उसे बाहर निकालने के लिए मुंह में हाथ डालने की कोशिश की पर व्यर्थ—मेरी अंगुलियाँ मुंह में प्रवेश नहीं पा सकीं। मेरा भय बढ़ गया। मैंने उठने की कोशिश की, पर पद्मासन ऐसा जम गया था कि उठ न सका। नाभि के नीचे मणिपुर चक्र में असह्य दर्द होने लगा। मैंने जोर से चिल्लाना चाहा लेकिन एक भी शब्द बाहर न निकला। गले में जैसे कुछ अटक गया था। दूसरे ही क्षण मुझे कुरूप और भयानक असुरों की-सी आकृतियाँ दिखाई पड़ीं। मैंने सोचा कि यह सब दुष्ट और अधर्म आत्माएं अथवा भूत-पिशाच हैं। आश्चर्य तो यह है कि इन सभी प्रक्रियाओं के समय मेरा द्रष्टा भाव बराबर कायम था। मुझे क्या हो रहा था, इसका मुझे पूरा भान था।

(क्रमशः)

सद्गुरु प्रबोधन

□ श्री भोलेबाबा

विद्या सभी कर प्राप्त मत पाण्डित्य का अभिमान कर।
अभिमान विद्या का बुरा, इस पर सदा ही ध्यान धर॥
मत वाद कर न विवाद ही, कल्याण हित स्वाध्याय कर।
क्या सत्य और असत्य क्या, यह जानकर निज श्रेय कर॥

विद्या बताती है तुझे, क्या धर्म और अधर्म है।
विद्या जताती है तुझे, क्या कर्म और अकर्म है॥
विद्या सिखाती है तुझे, कैसे छूटे संसार से।
विद्या पढ़ाती है तुझे, कैसे मिले भण्डार से॥

गुरु-वाक्य का कर अनुसरण, विश्वास श्रद्धायुक्त हो।
बतलाय है जो शास्त्र कर, आचार संशय मुक्त हो॥
जो जो बताते शास्त्र गुरु, उपदेश सर्व यथार्थ है।
संशय न उसमें कर कभी, यदि चाहता परमार्थ है॥

★

□ डा॰ श्रीमती प्रतिमा अस्थाना

नारी और आध्यात्मिकता

नारी का स्वाभाविक गुण है—'आध्यात्मिकता' और यही उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण धरोहर है। यदि सामान्य नारी का जीवन-दर्शन अध्ययन किया जाय तो, चाहे वह नागरीय नारी हो अथवा ग्राम्या, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, कृषक या श्रमिक हो अथवा राजमहिषी—न केवल वे आस्तिक हैं वरन् उनके व्रत, सूत्र अध्यात्म से उपवास, पूजा, अर्चना, तीज, त्यौहार और पर्व सब यही संकेत करते हैं कि उसका बहुत निकट जुड़ा हुआ है। नारी का त्यागमय जीवन, उसका समर्पण परिवार के प्रति उसकी प्रतिबद्धता सन्तति के लिए कष्ट सहने की क्षमता और तत्परता—सभी यही प्रमाणित करते हैं कि नारी का आध्यात्मिकता से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। उसकी संवेदनशीलता और बलिदान की भावना को आध्यात्मिक स्त्रोत द्वारा ही शक्ति प्राप्त होती है।

नर और नारी दोनों के पारस्परिक सहयोग पर ही सामाजिक ढाँचा आधारित है। पुरुष भी परिवार के लिए प्रतिबद्ध है, त्याग करते हैं। श्रम करते हैं। पुरुष की गरिमा इससे सिद्ध होती है कि जब-जब पृथ्वी पर धर्म की ग्लानि हुई तब-तब अवतार हुए और पुरुष वेश में हो। किन्तु पुरुष की शक्ति है नारी। सभी अवतारों की जननी है नारी। शैशव में उनका लालन-पालन नारी ने ही किया। पुरुष की कर्मठता एवं उपलब्धियों की पृष्ठभूमि में नारी अवश्य कहीं न कहीं दिखाई पड़ती है।

अध्यात्मक के शाश्वत मूल्य, दया, क्षमा, प्रेम, सहिष्णुता, त्याग सभी नारी के चरित्र में अधिक मुखर हैं नारी इन मूल्यों की वाहिका है और सन्तान में इन मूल्यों का संस्कार नारी ही संचरित कर सकती है। इस प्रकार रचनात्मक भूमिका है नारी की। परम सत्ता जो ममता और स्नेह रूप है, वह नारी रूप में उजागर हुआ है। नारी की तरल ममता अध्यात्म का मूलाधार है।

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 003, NOVEMBER, 1993

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ______________________

____

____

____

आध्यात्मिक सुख

मानव जीवन की सार्थकता और कृत्यकृत्यता आध्यात्मिक सुख शान्ति में है। उसके लिए सदैव जागरूक रहना चाहिए। चित्त का संशोधन अनेक उपायों से करना चाहिए। परदोष, परनिन्दा, परस्वापहरण की भावनाएँ—जो आज मानव को दानव बना रही हैं, इनसे बचना चाहिए। असत्य भाषण का अवरोध, सत्य भाषण की चेष्टा सदैव करनी चाहिए। तभी मनुष्य अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है और मानव शरीर की सफलता प्राप्त कर सकता है। अन्यथा :—

तस्यामृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात्।

—के अनुसार मानव अमृत के भरे हुए घट को अपने हाथ से गिराकर प्रमाद का परिचय देगा। अतः आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए।

—श्रुतिसार

प्रकाशक एवं मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बबई कलाँ, ताजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित। फोन: 360426